आरसी प्रसाद सिंह

संजीवनी

संजीविनी

रचयिता

श्री आरसी प्रसाद सिंह

प्रकाशक

पटना—८००००४

प्रकाशक	तारामण्डल, पटना—८०००४
पहला संस्करण	दिसम्बर, १९६४
आठवाँ संस्करण	अगस्त, १९७७
नवाँ संस्करण	अगस्त, १९७८
रचना काल	लखनऊ, सितम्बर १९६४
कापी राइट	रचनाकार
मुद्रक	आलोक प्रिन्टिग प्रेस, काजीपुर पटना—८००००४

मूल्य : २·७५

विषय-प्रवेश

'संजीविनी' एक ऐसा काव्य है, जिसकी कथा-रूपी प्रत्यंचा अतीत की ओर खिची है। संदेश-रूपी शर-संधान भविष्य का संकेत दे रहा है और वर्त्तमान युग का कठोर कोदण्ड जिसकी वज्र-मुट्ठी में है।

"संजीवयितु शीलमस्या इति विग्रहे संजीविनी।" देववाणी संस्कृत के अनुसार इस प्रकार जो शब्द स्वयं सिद्ध होता है, वही मेरे इस काव्य-ग्रंथ का शीर्षक "संजीविनी" है। यद्यपि लोक में सर्वत्र अकारान्त 'व' संयुक्त 'संजीविनी' शब्द ही विशेष रूप से प्रचलित है और आधुनिक साहित्य एवं कोष-ग्रंथ 'व' में ह्रस्व-इकार-पूर्वक "संजीविनी" शब्द से प्रायः अपरिचित-से ही प्रतीत होते हैं, तथापि मेरे विचार से उपरोक्त "संजीविनी" शब्द ही आर्ष प्रयोग होने के कारण सम्मान्य, विशुद्ध, युक्तिपूर्ण एवं स्थान पाने के सुयोग्य है, क्योंकि, मेरी काव्य-कथा का आदि स्रोत महाभारत है और वहाँ भगवान् वेदव्यास ने सर्वत्र "संजीविनी" शब्द का ही व्यवहार किया है, "संजीवनी" का एक बार भी नहीं। उदाहरणार्थ, प्रस्तुत पुस्तक के प्रारम्भिक पृष्ठों पर मूल पाठ के दो श्लोक समुद्धृत हैं, कृपया अवलोकन करें।

किसी पुरातन कथा को आधुनिक काव्य का रूप प्रदान करने के विभिन्न प्रयोजन हो सकते हैं और अनेक दृष्टि-विन्दुओं से उसके उद्देश्य की सफलता किम्बा असफलता की विवेचना की जा सकती है। किन्तु, काव्य के सभी सद्गुणों के वर्त्तमान रहते हुए भी यदि उसमें युगवाणी का उदात्त-स्वर उन्मुक्त भाव से झंकृत नहीं होता, तो उसकी सार्थकता अपूर्णता की असिद्धि में ही विलुप्त-सी रह जाती है। "संजीविनी" के प्रणयन में सुन्दरम् के साथ ही शिवम् की प्रेरणा भी उतनी ही बलवती रही है, जितनी सत्यम् की। इसका औचित्य सिद्ध करने के लिए हमें अपने देश, युग एवं परिवेश को सम्यक् दृष्टि से अवलोक लेना ही पर्याप्त है।

स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए सुदृढ़ संकल्प, अचल धैर्य, अमित उत्साह, अटूट साहस, निरन्तर उद्योग, अपूर्व आत्म-त्याग आदि जिन दैवी सद्गुणों की अनिवार्य आवश्यकता प्रतीत होती हैं, निस्सन्देह सम्प्राप्त स्वतन्त्रता की रक्षा के निमित्त भी उन्हीं महान् सद्गुणों का आश्रय लेना पड़ता है। किन्तु संसार में इसके विपरीत व्यवहार देखा जाता है। किसी महान् लक्ष्य की प्राप्ति के पूर्व, सत्य की जो प्रखर ज्योति दिग्दिगन्त को जाज्वल्यमान कर देती है, उद्देश्य की पूर्त्ति हो जाने के उपरान्त एक मिथ्या तामसिक भाव का राहु उसे अपना ग्रास बना लेता है। साधनकाल में मानव-चरित्र की जो विशेषताएँ बाधाविघ्नों के उद्दंड पाषाण-खंडों को तोड़-फोड़ कर उभड़ आती हैं, सिद्धि प्राप्त होते ही वे आलस्य, भोग, विलास एवं तन्द्रा की प्रगाढ जड़ता में आकंठ निमग्न होकर अपना अशेष अस्तित्व खो देती हैं। अतएव यह एक सर्वमान्य एवं स्वयं—सिद्ध तथ्य है कि संभ्रष्ट स्वाधीनता को प्राप्त कर लेना यदि महान् उद्योग है, तो प्राप्त स्वाधीनता की रक्षा करना महत्तर पुरुषार्थ है।

आज हमारे देश की अचिरागता स्वतन्त्रता अग्नि-परीक्षाओं से उत्तीर्ण होकर चरित्र के निकष पर चढ़ी है। सुख-समृद्धि के भौतिक साधनों में जिस वेग से वृद्धि हो रही है, उसी गति से यदि राष्ट्रीय चरित्र का ह्रास न हुआ होता, तो आज हमारी भूमि के एक महत्वपूर्ण अंश को बलात् अधिकृत कर लेने का दुःखद प्रसंग तो दूर रहे, किसी आततायी की उँगली उठने के पूर्व ही उसका मस्तक धड़ से विच्छिन्न हो जाता। किन्तु, हमारे अन्तःपुर में जब तक स्वार्थ वैर, काम, क्रोध, कलह आदि दुर्गुणों का आधिपत्य रहेगा, तब तक हम कदापि यह आशा नहीं कर सकते कि हमारी सीमा से हमारे शत्रु निष्क्रिय—उदासीन हो जायेंगे। जीवित वनराज की दुर्दम्य दहाड़ से मदमत्त गजराज भी प्रकम्पित हो जाता है, किन्तु, उसी के मृत शरीर की उत्कंठ दुर्गन्ध सुदूर गगन से शत-शत गृद्धों को सादर निमन्त्रण देकर उतार लाती है। इतिहास साक्षी है कि किसी जाति, राष्ट्र या साम्राज्य

के भाग्योदय के पूर्व उसकी नैतिक शक्ति का अभ्युत्थान होता है और अन्त में इसी चारित्रिक पतन के परिणाम-स्वरूप उसका सर्वनाश भी समुपस्थित हो जाता है। सभी भौतिक उन्नतियों का चिरस्थायी आधार समाज की सच्चरित्रता और सदाचार में ही संनिहित रहता है। आज भारत की सर्वोपरि आवश्यकता इसी एक सच्चरित्रता और उसके प्रति अटूट आस्था की है। जब तक हमारी यह आधार-शिला अशक्तावस्था में है, तब तक इसके ऊपर चाहे आकाशचुम्बी रजत-प्रासाद ही क्यों न निर्मित कर दो, वह किसी भी क्षण धराशायी हो सकता है।

और यह सदाचरण, स्वनिष्ठा, नैतिकता आ सचरित्रता ही एक ऐसी वस्तु है, जिसका उत्पादन किसी यन्त्र-तन्त्र के द्वारा नहीं हो सकता। युगान्तरकारिणी अपराजिता भगवती आणविक शक्ति में भी वह क्षमता नहीं, जो किसी असाधु को साधु में परिणित कर दे, कठोर हृदय को कोमल बना दे, किसी भ्रष्टाचारों को सदाचारी बना दे, किसी पतनोन्मुख मानव को अभ्युदय के स्वर्ण-शिखर पर चढ़ा दे। यदि ऐसी महती शक्ति किसी में है, तो वह सत्पुरुषों की वाणी में है। सत्पुरुष या सत्कवि की वाणी ही वह संजीविनी है, जो मृतकों में भी नवजीवन का संचार कर देती है। मुमूर्ष प्राणों में भी उत्तेजना की अग्निशिखा प्रज्वलित कर देती है। निष्क्रिय-निश्चेतन शिराओं में भी उष्ण रुधिर की अदम्य मादकता प्रवाहित कर देती है। जिस विद्या के द्वारा हमारी वाणी में वह अपराजिता शक्ति आती है, उसे चाहे हम जिस किसी भी संज्ञा से अभिहित क्यों न करे, अपने मूल-रूप में वह सजीविनी ही है।

प्राचीनकाल में इस संजीविनी विद्या के आर्चाय शुक्र थे। यह महा पराक्रमी दानवों के गुरु थे। देवताओं के गुरु बृहस्पति से इनकी प्रतिस्पर्द्धा थी। देवासुर-संग्राम में जो असुर निहत हो जाते, उन्हें शुक्राचार्य अपनी संजीविनी विद्या के प्रयोग से पुनर्जीवित कर देते थे। किन्तु देवताओं को यह अपूर्व विद्या ज्ञात नहीं थी। फलतः वे असुरों से बारम्बार पराजित हो जाते थे। तब बृहस्पति-पुत्र कच इस विद्या की शिक्षा ग्रहण

करने के निमित्त आचार्य शुक्र की संनिधि में उपस्थित हुए। और आचार्य-श्री ने कृपया कच को संजीविनी विद्या का उपदेश दिया।

किन्तु, शुक्राचार्य के पास जो संजीविनी विद्या थी, वह वस्तुतः मृतक व्यक्ति को भी जिला देने में समर्थ थी। अमृत नामक एक अन्य पदार्थ से भी हम परिचित हैं, जो मृतकों को जीवित कर देता है। किन्तु, अमृत जहाँ कोई पेय वस्तु है, संजीविनी एक विद्या मात्र है। दूसरी भिन्नता इस बात में भी है कि अमृत में अमरता का गुण है, संजीविनी केवल जीवन-दान देती है, अमरता का कोई उत्तरदायित्व नहीं लेती।

भारतीय पुराण-कथाओं में शुक्राचार्य एक ऐसे विलक्षण प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तित्व के रूप में प्रकाशित दिखाई पड़ते हैं, जिनसे बढ़ कर तो क्या, समान स्तर का भी कोई अन्य नक्षत्र दृग्गोचर नहीं होता। वह एक साथ ही कवि और काव्य दोनों हैं। काव्य इसलिए हैं कि कविपुत्र हैं। उनके पिता भी कवि थे। और कवि तो वह सर्वविदित हैं। 'शुक्र नीति' के नाम से उनका बहुश्रुत ग्रन्थ उपलब्ध है। वेद में भी उशना की संज्ञा से उनका उल्लेख है। अमरकोषकार की उक्ति है—"शुक्रो दैत्यगुरुः काव्य उशना भार्गवः कविः।" गीता में भगवान जहाँ अपनी दिव्य विभूतियों का वर्णन करते हैं, वहाँ कवियों में इन्हीं उशना अर्थात् शुक्राचार्य का नामोउल्लेख करते हैं। कवियों में सर्वोपरि शुक्राचार्य का नामोल्लेख होने से यह बात निस्संदेह सिद्ध होती कि उस युग में एकमात्र वही ऐसे कवि थे, जो ईश्वर की दिव्य विभूति समझे जाते रहे होंगे। रामायण-जैसे उच्चकोटि के काव्य के प्रणेता महर्षि वाल्मीकि को आदि कवि होने का गौरव प्राप्त हुआ, अष्टादश पुराणों के महान् रचयिता को मुनि-विभूति की सम्मान्यता प्राप्त हुई। कालिदास तथा परवर्त्ती महाकवियों का अस्तित्व ही जब संदिग्ध था, तब अनेकानेक वैदिक और पौराणिक कविर्मनीषियों की कीर्ति-कौमुदी को मलिन कर जो व्यक्ति प्रतिष्ठा और सफलता के उच्चतम शिखर पर अपनी विजय-पताका फहरा सका था, उसमें अवश्य ही कोई अद्भुत विलक्षणता रही होगी। उस कवि में कोई ऐसी अपूर्वता रही होगी, जिसका सर्वथा अभाव अन्य कवियों में होगा।

आज के युग में साहित्य या काव्य की जो परिभाषा प्रचलित है, उसके अन्तर्गत शुक्राचार्य की कृतियों का मूल्यांकन कोई भी नहीं करना चाहेगा। फिर अन्य कौन-सा ऐसा महत्त्व है जिसके कारण वह सर्वोत्तम कवि माने गये? जिनका स्थान अद्वितीय था। विश्व में जिनकी तुलना नहीं थी। जो देव-गुरु वृहस्पति के समकक्ष ही नहीं, किसी बात में उनसे भी श्रेष्ठ थे और अपनी प्रतिभा के बल से दानवों के आचार्य-पद पर संप्रतिष्ठित थे। अवश्य ही इसके मूल में वह विद्या ही रही होगी, जिसे हम संजीविनी के नाम से जानते हैं। कोई कितने ही महान तपस्वी, त्यागी, ऋषि या मनीषी भले ही रहे हों, संजीविनी विद्या तो एक मात्र शुक्राचार्य के ही सिद्ध थी।

शुक्राचार्य के पास जो संजीविनी विद्या थी, उसके प्रभाव से चाहे कोई शरीर भस्मीभूत अथवा किसी मानव या वन्यपशु के उदरस्थ भी क्यों न हो गया हो, वह तत्काल जीवित होकर दंडायमान हो जाता था। उस विद्या का प्रभाव ऐसा अमोघ था। त्रिलोक में ऐसी कोई भी शक्ति नहीं थी, जो उसे विफल करती। शुक्राचार्य की यह संजीविनी विद्या किसी गंभीर गवेषणा का विषय हो सकती है और सम्भव है, निकट भविष्य में आज के युग का कोई वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक या परामनोवैज्ञानिक यह प्रमाणित कर दे कि केवल विद्या या वाणी अथवा मंत्र में भी वह अलौकिक सामर्थ्य है, जिसके द्वारा मृतकों को जीवन-दान दिया जा सकता है। जब तक किसी ऐसे पूर्ण वैज्ञानिक शोध का परिणाम हमारे प्रत्यक्ष नहीं होता, तब तक क्या यह उचित नहीं होगा कि हम धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करें और प्राचीन ज्ञानी अन्वेषकों के निष्कर्षों में आस्था रखें। क्योंकि, अन्धविश्वास से ही क्यों न हो, जनमानस ने बारम्बार इस सत्य को दुहराया है, जिसे पुरातन काल में बुद्धिमानों ने प्रकट किया। ईसा हो या तुलसी दास, ऐसे अनेक सन्तों के जीवन में कुछ चमत्कारपूर्ण घटनाएँ देखी गयी हैं, जो वाणी की सर्व-शक्तिमत्ता को उद्घोषित करती हैं। मंत्रों का प्रभाव तो यहाँ तक देखा गया है कि उनसे पर्वत चलायमान हो

जाते थे, बाण अपने निर्धारित लक्ष्य को बेध कर तूणीर में लौट आते थे और तक्षक नाग के उग्र हलाहल से दग्ध वृक्ष भी हरे-भरे हो जाते थे। बाइबिल में यह कथन आता है कि प्रारम्भ में केवल शब्द था और उस शब्द से ही समस्त सृष्टि की उत्पत्ति हुई। मंत्र भी उसी शब्द-ब्रह्म की एक सुनियोजित समाकृति है। आज यदि उसके आश्चर्य-जनक चमत्कारों के उदाहरण दुर्लभ हो गये हैं, तो यह कदापि नहीं समझना चाहिए कि वे अपना प्रभाव खो बैठे हैं। वाणी की शक्ति आज भी उसी प्रकार अक्षुण्ण-अपराजेय है, जिस प्रकार वह किसी सुदूर अतीत में थी। अन्तर इतना ही है कि आज हम सर्वानास्था के युग से संचरण कर रहे हैं और हम स्वयं नहीं जानते कि हमारे पास कौन-सा गुप्त धन है? कैसी अमोघ शक्ति है। हम एक ऐसे महान् पिता के अकिंचन उत्तराधिकारी हैं, जिसके ऐश्वर्य का अन्त नहीं। किन्तु, जब हम स्वयं उसके महान् गौरव और अनन्त ऐश्वर्य को प्राणपण से अस्वीकार करते हैं, तब भी क्या उसके स्वर्ण-सिंहासन का सान्निध्य पाने के योग्य पात्र बने रह जाते हैं?

अस्तु, आज के युग में यदि हमारे पावन-पुरातन देश को स्वतन्त्र होकर जीवित रहना है, तो उसे मानवता के चिरंतन मूल्यों को सर्वस्व देकर भी ग्रहण करना होगा। बल, वीर्य, शौर्य, उत्साह आदि रचनात्मक सद्गुणों के साथ त्याग, निष्ठा, सत्य, प्रेम, सामूहिक इच्छा-शक्ति आदि दैवी संपत्तियों का आवाहन भी करना होगा। आज की भाषा में संजीविनी विद्या की यदि इतनी भी सार्थकता सिद्ध हो जाय, तो भारतवर्ष फिर अपने पुरातन युग के गौरवशाली इतिहास को प्राप्त कर संसार का पथ-प्रदर्शक बन सकता है। जब तक किसी का अपना कल्याण संकट के बादलों से आच्छन्न है, तब तक परोपकार के पथ पर अग्रसर होना पाखंड के सिवा और क्या है?

संजीविनी का यही एक मात्र प्रेरणादायक सन्देश है, जिसे लेकर वह प्राचीन कलेवर में भी अर्वाचीन रंगमंच पर उतरी है। यह सन्देश है एक नवीन चेतना का। यह शंखघोष है एक नव जागरण का। यह

ललकार है एक अनागत भविष्य की। यह किरण-वेला है एक मंगल प्रभात की। इस बाह्मी वेला में जो बाह्य रूप से जाग्रत होकर भी अपनी जड़-चेतना में प्रगाढ़ निद्रा का मिथ्यानन्द उपभोग कर रहे हैं, वे मानो दुर्भाग्य की ज्वाला-मुखी पर निश्चित सोये हैं। एक दिन जब वह भयानक वह्नि-ज्वाला भड़केगी, तब कहीं उसके दुर्द्धर्ष उत्ताप से उन मोहमदकलिलाक्रान्त उन्मत्तों का पाषाण हृदय द्रवीभूत हो, तो हो। किन्तु, इन्हीं नवजात रश्मियों की स्निग्ध-कोमल छाया में ऐसे सुकुमार सुमन भी ऊँघ रहे हैं, जिनके अर्द्ध-निमीलित विलोचनों को चेतना की एक लहर ही प्रबुद्ध कर सकती है। संसार का भविष्य अपने उन आशा-कुसुमों की ओर देखता है, जो आज विद्यालय के आँगन में तरुणाई का सौरभ बिखेर रहे हैं। इन्हीं कुमारों के सुकुमार भुजदण्डों में एक दिन राष्ट्र की विजय-वैजयन्ती होगी और भविष्य का महान विजेता इन्हीं अलक्षित पाणि-पल्लवों में अपना उत्तरदायित्व सौंप कर अन्तरिक्ष में अन्तर्धान हो जायगा।

कहते हैं कि महाभारत का वास्तविक संग्राम द्रोणाचार्य के आश्रम में ही लड़ा गया था। कुरुक्षेत्र का युद्ध तो उसी की एक मात्र अनुकृति था। यह उक्ति इस कठोर सत्य की सुस्पष्ट निर्घोषणा करती है कि किसी भी राष्ट्र के चरित्ररूपी विशाल भवन की आधारशिला उसके विद्यालय में देखी जा सकती है। आज हम अपने बालकों को जैसी शिक्षा देंगे, उसी के अनुरूप कल हमारे समाज का निर्माण होगा। अतएव, यदि हम चाहते हैं कि हमारे देश में सचरित्र और सदाचारी नागरिकों की संख्या बढ़े, तो हमें तत्काल अपने विद्यालयों में तदनुकूल शिक्षा की व्यवस्था करनी चाहिए। इस कार्य में हम जितना ही विलम्ब करेंगे, सुपरिणाम में हमारे चरण लक्ष्य से उतने ही पीछे रहेंगे।

"संजोविनी" इसी मंगलमय संदेश को युग-वाणी का रूप देकर अवतरित हुई है। इसमें एक ओर जहाँ देश-प्रेम, त्याग-बलिदान और बल-विक्रम की ललकार सुनाई पड़ती है, वहीं दूसरी ओर विद्योपासक की श्रद्धा-भक्ति तथा साधन-तपस्या पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। "संजीविनी" स्वयं एक महाविद्या है, जिसे सीखने के लिये कच को स्वर्ग

का सुख-वैभव ठुकरा कर आना पड़ता है। और न केवल गुरु की सेवा ही, वरन् एक सहस्त्र वर्षों तक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन भी अनिवार्य होता है। विद्यालाभ सहज नहीं होता। इसके लिये कितनी साधना, कितनी तपश्चर्या और कितने धैर्य की आवश्यकता होती है, यह ब्रह्मचारी विद्यार्थी कच के जीवन से सुस्पष्ट उदाहरित हो जाता है। कच का चरित्र एक आदर्श विद्याभ्यासी का चरित्र है, जो एकमात्र अपनी विद्या को ही जीवन का चरम लक्ष्य मानकर अग्रसर होता है और संसार के अन्य सभी प्रलोभनों को ठुकरा देता है। यहाँ तक कि तीन-तीन बार मृत्यु के दुर्निवार मुख में भी प्रवेश करता है और गुरु कृपा से पुवर्जीवित हो जाता है। यही कारण है कि शत्रु के देश में रहकर और एकदम विपरीत परिस्थितियों से चलकर भी कच ने संजीविनी जैसी अपूर्व विद्या प्राप्त कर ली। इतना ही नहीं, उसके उज्ज्वल चरित्र का सर्वोत्कृष्ट परिच्छेद वहाँ दृष्टिगोचर होता है, जहाँ वह अपने कर्त्तव्य की वलिवेदी पर सिद्धिदात्री आचार्य-कन्या सुन्दरी तरुणी गुणवती देवयानी के प्रणय-निवेदन को ठुकरा ही नहीं देता, बल्कि, उसके अभिशाप की विषज्वाला में अपनी विद्या को संदग्ध देखकर भी असंदिग्ध अबिद्ध चित्त से निश्चित पथ पर चल देता है। यही भारतीय विद्या का परम पावन लाभ है और यही मानवीय चरित्र का चरम जीवन उत्कर्ष है। मुझे आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास भी है कि जिस प्रकार इस संजीविनी विद्या के प्रभाव से पुरा काल में देवताओं ने असुरों पर विजय पायी थी, उसी प्रकार आज भी देवभूमि भारतवर्ष अपने अन्तर्बाह्य शत्रुओं को परास्त कर देश-विदेश में सुख-शान्ति का साम्राज्य स्थापित क॰गा।

मुजफ्फरपुर
दिसम्बर, १९६४

समर्पण

नेत्र में विद्युत-प्रभा, भुजदण्ड असि-कोदण्ड-मण्डित।
आँगदी दृढ़ता चरण में, हृदय में श्रद्धा अखंडित।
प्राण में ज्वालामुखी, भूगोल करतल पर सँभाले।
जा रहा है जो त्रिभग ध्वजदंड को नभ में उछाले।
कर यिजय-उद्घोष युग-निर्माण में नूतन बढा है।
शत्रु को ललकारता जो शिखर-हिमगिरि पर चढ़ा है।
दर्प भी कन्दर्प का मुख-कान्ति जिसकी देख मर्दित।
देश के उस तरुण को "संजीविनी" मेरी समर्पित।

लखनऊ
२० अक्टूबर, १९६४

संजीविनी

क्रम	सर्ग		विषय		पृष्ठ

असुरास्तु निजघ्नुर्यान् सुरान् समरमूर्धनि ।
न तान् संजीवयामास बृहस्पतिरुदारधी ॥९॥
न हि वेद स तां विद्यां काव्यो वेत्ति वीर्यवान् ।
संजीविनीं ततो देवा विषादमगमन् परम ॥१०॥

महाभारत, आदिपर्वणि—सम्भवपर्व
अध्याय—७६

सर्ग १

देवासुर-संग्राम

देव-दनुज, चिर-काल सृष्टि में शत्रु-भाव से रहते हैं।
शक्ति-स्रोत ये दोनों ही विपरीत दिशा में बहते हैं।
दिवा-निशा-से ज्योति-तिमिर-से आपस में चिर-द्रोही हैं।
दनुज चेतना का प्रभार, तो देव शिखर-आरोही हैं।
कुसुम और कंटक-से दोनों एक वृन्त पर खिलते हैं।
किन्तु, समान्तर रेखाओं-से कभी न पथ पर मिलते हैं।
दिव्य चेतना के विकास में दानव-दल अवरोधक हैं।
और देव-गण ब्राह्मी-वेला के द्रष्टा उद्बोधक हैं।

भौतिक भोगों में प्रलिप्त युग भुजदण्डों के अभिमानी।
अहंकार-विस्फीत वज्रमुख उद्गीरिक कर रण-वाणी।
ये दानव संहार-चक्र के चालक बन कर आते हैं।
समर-शरासन तान प्रलय के अग्रदूत हो जाते हैं।
असन्तुष्ट पाताल-विवर से मदिरोन्मत्त निकलते हैं।
पृथ्वी को कलुषित चरणों से बारम्बार मसलते हैं।
चिर-दुर्दान्त रुधिर—पायी दनुपुत्र जिधर से चल पड़ते,
हालाहल-कीटाणु उधर ही अम्बर-मण्डल से झड़ते।
क्षुधा, शोक, झंझा, विनाश, भूकम्प-लहर-सी आती है।
सत्य-सूर्य को महा-राहु की उदर-दरी ग्रस जाती है।
कला-भारती और सभ्यता-संस्कृति विधवा होती है।
बैठ राजलक्ष्मी श्मशान में शिव-समाधि पर रोती है।
पर न दनुज का धृष्ट चरण उद्दाम यहीं रुक जाता।
दुर्विनीत दुर्द्धर्ष स्वर्ग की सीमा से टकराता है।
जब न महत्वाकांक्षा-हित पर्याप्त धरा को पाती है,
अमरपुरी पर भी दानव की सेना तब चढ़ जाती है।

देव शान्ति-प्रिय, आत्म-तृप्त विस्तार-नीति से दूर रहे।
अपने ही आनन्द-लोक में जीवन के सुख-दुःख सहे।
सहसा सुन ललकार द्वार पर विकल हुए चिर-विस्मय से।
कोलाहल मच गया स्वर्ग के वातायन पर हिम भय से।

अरे, कौन उद्दण्ड दनुज यह अमरपुरी पर चढ़ आया ?
पड़ी सृष्टि की सौम्य दृष्टि पर किस धूमध्वज की छाया ?
कौन आततायी समरोद्धत रस में विष यों घोल रहा ?
किसका यह रण-तूर्य अकारण भैरव-स्वर में बोल रहा ?
सिंहासन हिल रहा स्वर्ग का, अमरावती गुहार रही—
"अरे ! कहाँ हो तरुण देश के ? दानवता ललकार रही।
एक चुनौती-सी आयी है, जिसका उत्तर देना है।
नतमस्तक होना न शत्रु के सम्मुख, लोहा लेना है।"
कहा इन्द्र ने—"भय न करो हे देव, अमृत के पायी हो।
विश्व-चेतना के विकास में प्रभु के उत्तरदायी हो।
शक्ति-पुञ्ज हो, वज्र-हस्त हो, मेरु-धीर तरुणाई हो।
हिलो न, आँधी प्रलय-घटा के साथ भले ही आयी हो।
उठो, सँभालो शस्त्र, शत्रु-दल छिन्न-भिन्न हो जायेंगे।
निश्चय विजय हमारी है, इतिहास-पृष्ठ बतलायेंगे।
हम आक्रामक नहीं, आत्म-रक्षार्थ बनेंगे संहारक।
और पराजित निश्चय होंगे क्रूर दनुज-दल भयकारक।"
सुरगुरु बृद्ध बृहस्पति बोले—"खोकर अब क्या रोना है ?
यहाँ आत्म-रक्षा का साधन आक्रामक ही होना है।
किन्तु, देवताओं पर जब तक दुर्दिन-मेघ न छाता है।
तब तक नहीं समझ में उनकी अर्थ शान्ति का आता है।"
"व्रती अहिंसा के यद्यपि हम, पर कायर निर्वीर्य नहीं।
सत्य प्रेम के प्रतिपालक हैं, किन्तु नहीं दौर्बल्य कहीं।

हम सह सकते नहीं रुधिर में अपमानित ज्वर की ज्वाला।
हम पहनाते उछल-उछल कर स्वतन्त्रता को जयमाला।"
वायुदेव ने कहा और प्रति-ध्वनित दिगन्त अशेष हुआ।
पदाक्रांत किस असुर-वाहिनी से निसर्ग परिवेश हुआ?
शील-हरण हो गया शान्ति का, कोलाहलमय देश हुआ।
रणचण्डी के नूपुर झनझन बजे, मुक्त घनकेश हुआ।

जैसे कौंध गयी बिजली-सी कल्पान्तक बादल-दल में।
जैसे ज्वालामुखी धधक-सी उठी प्रलय-सागर-जल में।
कोटि-कोटि देवों के स्वर ने एक साथ ही ललकारा।
बच न सकेगा आज स्वर्ग की अचल शान्ति का हत्यारा।
सिंह-गुफा में स्वयं मृत्यु को कौन वरण कर आया है?
चन्दन समझ अनल की असि को किसने कण्ठ लगाया है?
क्षमा हमारा शील, किन्तु यह दान न देंगे शठता को।
हम निष्काम, किन्तु वर लेंगे उद्यम, श्रम, कर्मठता को।
दया हमारा धर्म, किन्तु वह बनी दनुज के लिए नहीं।
द्वार मुक्त, पर सावधान हैं, घुसे लुटेरे तो न कहीं?
प्रेम हमारा मन्त्र, किन्तु दुष्टों का दमन करेंगे ही।
सत्य हमारी नीति, विजय के पथ पर चरण धरेंगे ही।
मित्र हमारा विश्व, सभी को सुहृद बनाकर रखना है।
किन्तु, देखना है कि मित्र के कर से गरल न चखना है।
किसी देश की स्वतन्त्रता का हरण नहीं हम करते हैं।
अपनी पावन मातृभूमि में जीवन्मुक्त विचरते हैं।

पर, कोई यदि स्वतन्त्रता का यह अधिकार न मानेगा,
बल-पूर्वक अपने शासन में लाने का हठ ठानेगा,
तो, फिर हम-सा शत्रु न कोई, पल भर नहीं विराम मिले।
समर-चुनौती अंगीकृत है, चाहें जो परिणाम मिले।
एक निमिष की पराधीनता से बढ़कर है मृत्यु भली।
और दासता के हलवे से भली मुक्ति की मूँगफली।

एक हिलोर उठी ऐसी, जो अंग-अंग में भ्रम उठी।
तरुणी के बदले तरुणाई तलवारों को चूमे उठी।
मस्ती एक भरी आँखों में ऐसी, जो आग्नेय बनी।
साहस और शौर्य-संगम पर वाणी अपराजेय बनी—
"संघर्षों ने दिया निमन्त्रण, लहरों ने आह्वान किया।
बढ़ो, देश के वीर सपूतो, यौवन ने जयगान किया।
निशा अँधेरी है, तो क्या है ? उषा बिहँसनेवाली है।
कष्ट और श्रम के आँचल में खिलती मधु की डाली है।
दर्द और दुख से ही सींची जीवन की हरियाली है।
त्याग और तप की ज्वाला में मुस्काता वनमाली है।
तूफानों ने ललकारा है, पौरुष ने अभियान किया।
बढ़ो देश के वीर सपूतो, यौवन ने जयगान किया।
रात्रि-शेष होने के पहले तम भी गहरा होता है।
सुख का हर दिन अन्धा होता, हर पल बहरा होता है।
फूलों की छवि पर शूलों का निर्मम पहरा होता है।
ज्वाला में तपकर कुन्दन का रंग सुनहरा होता है।

धरती में मिटकर बीजों ने अंकुर का निर्माण किया।
बढ़ो, देश के वीर सपूतो, यौवन ने जयगान किया।
रणखेतों में हाथ मिलाती है स्वतन्त्रता की रानी।
बाणों की शय्या पर सोते आजादी के सेनानी।
ताज पहनते हैं काँटों का मुक्ति-मन्त्र के अभिमानी।
विजय-बधू उसकी है, जिसकी तलवारों में है पानी।
मृत्युञ्जयी वही है, जिसने जीवन का वलिदान किया।
बढ़ो, देश के वीर सपूतो, यौवन ने जयगान किया।
दीवानों का फागुन का हर मस्त महीना पड़ता है।
शिर को काट, हथेली पर धर जग में जीना पड़ता है।
आजादी के लिये बहाना लहू पसीना पड़ता है।
नीलकण्ठ को उग्र हलचल विष भी पीना पड़ता है।
कठिनाई ने सदा सफलता का आनन्द-विधान किया।
बढ़ो, देश के वीर सपूतो, यौवन ने जयगान किया।"

जब देव ! क्रोध किया, तब हिम-समुद्र भी खौल उठा।
वयो-वृद्ध जर्जर जटायु भी जड़-पंखों को तौल उठा।
मृग ने की मृगया मृगेश की, खग ने खगपति को मारा।
चुहिया ने बिल्ली को घेरा, कुरुक्षेत्र में ललकारा।
भेड़ भेड़िये पर झपटी, डपटी चिड़िया चिड़िमारों पर।
मेढक दौड़ा सर्पराज पर, नदियां चढ़ीं पहाड़ों पर।

सुंदरियों की पायल झनकी रुद्र-वीण-झंकारों में।
बोल उठी वंशी पनघट पर सर्वनाश-टंकारों में।
मलयानिल दावानल बन कर बहने लगा लता-घर से।
फूल-फूल से चले शूल-शर, शशि से पावक-कण बरसे।
कुञ्ज-कुञ्ज में भ्रम भ्रमरों ने पुञ्ज-पुञ्ज विष घोल दिया।
घाटी-घाटी से तितली-परियों ने धावा बोल दिया।
पल्लव-पल्लव के प्राणों से बजी दुन्दुभी भैरव की।
रज-रज के रोएँ-रोएँ में वाडव-वह्नि-शिखा धधकी।
ऐरावत पर चले सुराधिप स्वयं बज्र लेकर कर में।
वायु-देवता चले वेग उनचासों लेकर अम्बर में।
अग्निदेव ने ज्वाला-जिह्वा का अद्भुत विस्तार किया।
वरुणदेव ने सलिल-वृष्टि से भू-नभ पारावार किया।
महिषारूढ़ चले यम लेकर काल-दण्ड प्रलयंकारी।
चले विनायक भी मूषक पर मोदक ले अंकुश-धारी।
कार्तिकेय चल पड़े कलापी के वाहन पर नभचारी।
उनके पीछे चली गरजती अमरों की सेना सारी।
कोई रथ पर चला सुभट सुर धनुष-बाण को धारण कर।
कोई अश्वारोही सैनिक चला भयानक भाला धर।
कोई गदा घुमाता दौड़ा भीम भयंकर बलशाली।
कोई ढोल बजाता निकला, कोई देता करताली।
कोई ले तलवार-ढाल, ले कोई हल-मूसल आया।
कूद पड़ा ले समर-भूमि में, जिसने जो कुछ भी पाया।

यही युद्ध की नीति निपुण है; चलो वहीं से, जहाँ जगे।
और बना लो अस्त्र उसी को, जहाँ कहीं जो हाथ लगे।

अस्त्र-शस्त्र की भीषण बर्षा होने लगी उभय दल में।
जैसे, पावस में बूँदों की झड़ी बरस जाती पल में।
गर्जन-तर्जन और भयानक आलोड़न-उद्दीपन है।
अन्धाधुन्ध प्रहार कहीं है, कहीं समत्व-प्रदर्शन है।
कहीं रथी से रथी मिले हैं, पैदल से पैदल लड़ते।
कहीं गजों पर वाजि उछलते, कहीं खड्ड में गिर पड़ते।
मस्तक कटकर गिरा किसी का और चला धड़ जाता है।
नाच-नाच उन्मुक्त धड़ाधड़ वह तलवार चलाता है।
सनन सनन चलते शर, चम-चम-चम तलवार चमकती है।
अन्धकार है कहीं, कहीं तो पावक-शिखा दहकती है।
हाहाकार, शंख-ध्वनि; घण्टा-नाद, बज्र विस्फोटन-स्वर।
'मारो, काटो, पकड़ो, घेरो !' शब्दों की झंझा-झर्झर।
अनुनय-विनय न, ममता मोह न, कोई किसकी सुनता है ?
काल-धुनकिया रण धुनकी पर सैन्य-रुई को धुनता है।
कहीं चक्र रथ के टूटे हैं, कहीं ध्वजा है, दण्ड कहीं।
और पड़े हैं अश्व-गजों के शत-शत खण्ड-प्रखण्ड कहीं।
लगे तैरने रुण्ड-मुण्ड उद्दाम रुधिर की सरिता में।
ज्यों, वीभत्स-रौद्र रस जगते वीर-भाव की कविता में।
जो शिर अहंकार से उन्नत, हिमगिरि-से दर्पोज्ज्वल थे।
मणि-माणिक-मोती-माला से शोभित जो वक्षस्थल थे,

अगुरु-सुवासित सलिल-राशि में जो तन मज्जन करते थे,
जो आनन अमृतोपम रस के कानन में मधु चरते थे,
उनकी यह दुर्दशा कि जीवित शव पर गृद्ध उतरते हैं।
श्वान और जम्बूक खींचते, खाते और कुतरते हैं।
काक किसी के नयन फोड़कर खा जाते, उड़ जाते हैं।
कहाँ गया भुजदण्ड, खगों को भी न उड़ा जो पाते हैं ?
कहाँ गया वह पौरुष दुर्दम शत्रु-मान-मर्दन-कारी ?
एक तुच्छ मक्खी भी जिसके तन पर पर्वत-सी भारी।
तृषित अधर हैं, प्राण कण्ठगत, किन्तु, न मिलता है पानी।
जल-विहीन मीनों से मरते तड़प-तड़प कर अभिमानी।
सुरबाला के आलिंगन में जो तन करते अगवानी,
आज उन्हीं को ले आपस में पशु करते खींचातानी।

देवासुर-संग्राम भयानक इस प्रकार घनघोर मचा।
समर-क्षेत्र में शत्रु-पक्ष का कोई भी सैनिक न बचा।
जितने थे दितिपुत्र सभी वे भूपर एकाकार हुए।
आहत अथवा निहित, पराजित सुर-सीमा के पार हुए।
जो पहले द्रुत-गति से बर्बर आक्रामक बढ़ आये थे,
ले चतुरंग सैन्य-दल तस्कर-दस्यु-सदृश चढ़ आये थे,
अब पग-पग पर, डगर-डगर पर जो अमरों की मार पड़ी,
तो भागे दिति-पुत्र, पीठ पर देवों की ललकार पड़ी।

सर्ग २

कच अभियान

'किन्तु, पराजित होकर भी ये कौन लौटकर आते हैं ?
मृत होकर भी दानव कैसे फिर जीवित हो जाते हैं ?
रक्त-बीज ये कभी न घटते, कटते, मरते, लड़ते हैं ।
बरसाती कीटों से बढ़ते, सागर-सदृश उमड़ते हैं ।
नाश न होता है दनुजों का, चाहे कोटि उपाय करो ।
ताण्डव-नृत्य करो या अद्‌भुत महा-प्रलय-व्यवसाय करो ।
चिन्ता में देवेन्द्र पड़े हैं—"यह तो जटिल समस्या है ?
समाधान है कहाँ ? रागिनी कहाँ असूर्यम्पश्या है ?"
सुरगुरु बोले—"सुनो शचीपति ! पवनदेव को भेजा था ।
बना गुप्तचर मैंने दानव-दल का मन्त्र सहेजा था ।
और पता जो लगा, उसे मैं तुमको अभी सुनाता हूँ ।
शोक करो मत व्यर्थ, तुम्हारा मैं सन्देह मिटाता हूँ ।
दानव गुरु आचार्य शुक्र विज्ञान-ज्ञान-पारगत हैं ।
संजीविनी सिद्ध है विद्या, कवि हैं, कुशल, कला-रत हैं ।
इस विद्या के शुभ प्रभाव से मृत जीवित हो जाते हैं ।
इसी सिद्धि से दनु-पुत्रों को शुक्राचार्य जिलाते हैं ।
इस प्रकार अरि-दल जी जाते मरकर भी समरांगन में ।
और नया उत्साह-शौर्य ले फिर जा भिड़ते हैं रण में ।
यों गुरु शुक्राचार्य-कृपा से दानव हार न मानेंगे ।
देवों का अपमान करेंगे, अपनी कीर्त्ति बखानेंगे ।
हम हैं अमर अमृत के पायी, तृष्णा-क्षुधा-बहिर्गत हैं ।
जरा-मरण से रहित, व्याधि से हीन, अकुण्ठ-समुन्नत हैं ।

किन्तु मृतक में प्राण फूँकनेवाली विद्या ज्ञात नहीं।
मृत्यु-हीन हम, मृत्यु-लोक की यही जानते बात नहीं।
कैसी होती मृत्यु-वेदना ? जीवन का सच्चा सुख क्या ?
जन्म-मरण से परे देवता नहीं जानते हैं, दुख क्या ?"

"फिर क्या हो गुरुदेव ?" शचीपतिबोले--"देव पराजित हों !
और आपके महिमासन पर शुक्राचार्य विराजित हों ?"
"नहीं, नहीं । यह कभी न आशय मेरा।" निर्जर-गुरु बोले-
"किन्तु प्रश्न है, जन्म-मरण की ग्रन्थि कौन जाकर खोले ?
कौन देव आचार्य शुक्र का शिष्य बने आज्ञाकारी ?
और सीख ले उनसे संजीविनी महा-विद्या सारी।
फिर तो हम भी उस विद्या से मृत में जीवन भर देंगे।
और सदा के लिए शत्रु को पूर्ण पराजित कर देंगे।
नहीं हमारे दल में केवल अमर-लोक के ही प्राणी।
मर्त्य-लोक के तनुधारी भी, नश्वर जग के सेनानी।
यक्ष-पक्षधर, नर-किन्नर, गन्धर्व गर्व भी करते हैं।
प्रबल दानवों के शस्त्रों से जो आहत हो मरते हैं।
हम उनको जीवित करने में अगर सफल हो जायेंगे,
तो दानव-गण किसी भाँति भी हम से जीत न पायेंगे।

पर न सहज, यह कार्य कठिन है। अहिमुख से मणि का लेना।
मतवाले गज के मस्तक से मुक्ता लेकर चल देना।
ऐसा कौन वीर, जो निर्भय शत्रु-देश में पाँव धरे ?
क्रोध-वह्नि से दीप्त व्याघ्र की आँखों में जो धूल भरे ?
प्रलयानल-प्रज्वलित भवन में कौन शूर जा सकता है ?
कौन ग्राह के मुख से बचकर रत्न-दीप ला सकता है ?"

सन्नाटा छा गया सभा में, मौन देवता हैं सारे।
कहीं एक भी पत्र न हिलता, अपलक हैं दृग के तारे।
सहसा एक तरुण उठ बोला बीच सभा में आसन से,
बृषभ-स्कन्ध, उन्नत ललाट, परिपुष्ट वक्ष, अनुशासन से—
"जिसको आप अनुज्ञा दें गुरुदेव, वही प्रस्थान करे।
सर्व-देव-हित भाग्यवान् वह अपना जीवन-दान करे।"
कहा वृहस्पति ने हँसकर मृदु—"दान स्वयं मिल जाता है।
अधिकारी के पास स्वयं ही मन-वांछित फल आता है।
आत्म-दान की माँग न होती, प्राप्त न होता है बल से।
उसे न कोई ले सकता है किसी युक्ति, कौशल, छल से।
वह तो स्वयं प्रेरणा मन की, आत्मा की चिर वाणी है।
स्वेच्छा से देनेवाला ही जीवन का बलिदानी है।
सुन्दर कर्म, भावना सुन्दर दोनों जब मिल जाते है।

तभी त्रिबेणी के संगम-सा पावन फल ले जाते हैं।
इसीलिये मंगल आवाहन, मेरा पुण्य निमंत्रण है।
देखें कौन तरुण स्वेच्छा से करता आत्म-समर्पण है ?"

इसके पहले उठें हजारों हाथ कि वही तरुण बोला—
"मैं प्रस्तुत हूँ, शिरोधार्य है कार्य।" शक्र-आसन डोला—
"कौन ? सौम्य कच ? देव-पुत्र ? आचार्य-नयन के प्रियतारे।
वृद्ध वृहस्पति के गृह-दीपक, एक मात्र तुम उजियारे ?
तुम कैसे जाओगे बालक, क्रूर दस्यु-दल-दलदल में ?
तुम सुकुमार सुमन, जल जाओगे दानव-दावानल में।
यम, कुबेर, दिग्पाल अनेकों वीर धनुर्धर यहाँ खड़े।
इनके रहते अनल-कुण्ड में कैसे झोंकूँ तुम्हें, अरे ?
अभी अमृत का स्वाद चखा है नहीं तुम्हारे अधरों ने ?
कोमल वय के कुसुम-कुंज को गुंजित किया न भ्रमरों ने।
हिंस्र, रक्तजीवी, बर्बर वे दनुज तुम्हें खा जायेंगे।
फिर तो संजीविनी रहे, यों, तुम्हें कहाँ हम पायेंगे ?"

भृकुटि तरुण की खिँची धनुष की प्रत्यंचा-सी पल-भर में।
और दृष्टि से चले तडित-शर, बज्र-निनाद हुआ स्वर में—
"पूज्य पिता का शुभाशीष हो और भक्ति हो गुरु-पद की।
माता की करुणा का आँचल तथा कृपा सुर-संसद की।

रक्षा-कवच यही है मेरा, इतना ही सम्बल-धन है।
अस्त्र-शस्त्र भी यही, इसी बल के पर यह मेरा प्रण है।
जन्म-भूमि के लिए स्वर्ग-सुख, जीवन-दान करूँगा मैं।
सुर-सेवा के कारण अर्पण अपने प्राण करूँगा मैं।
ध्येय और पथ से विचलित मैं किंचित् कभी न होऊँगा।
जहाँ रहूँगा, मैं स्वदेश का गौरव कभी न खोऊँगा।
नहीं सत्य-पथ के यात्री को दानव या मानव से भय।
कुछ भी नहीं असम्भव जग में, उसकी होती सदा विजय।
संजीविनी यहाँ लाऊँगा, मैं लाकर दिखलाऊँगा।
स्वयं सीखकर मैं आऊँगा, औरों को सिखलाऊँगा।
नहीं रुकूँगा, नहीं झुकूँगा पथ में किसी प्रलोभन से।
मन का दर्पण स्वच्छ रखूँगा जन्मभूमि के रजकण से।"

"धन्य-धन्य !" समवेत-सुरों की गूँज उठी गौरव-वाणी—
"धन्य पिता गुरुदेव वृहस्पति, धन्या जननी कल्याणी।
ईश्वर ऐसे लाल देश के घर-घर में अर्पण कर दे।
जो स्वतन्त्रता के चरणों में जीवन-धन तर्पण कर दे।"
गद्गद् स्वर से कण्ठ लगाकर बोले सुरगुरु सजल नयन—
"जाओ तात, देव-हित दानव-नगरी में तुम करो गमन।

किन्तु, स्मरण रखना सदैव तुम मातृभूमि की महिमा को।
भूल न जाना स्वाभिमान, उद्देश्य और सुर-गरिमा को।
शुक्राचार्य महा-तेजस्वी, पराक्रमी विज्ञानी हैं।
दानव-दल के गुरु, संरक्षक, विद्या के अभिमानी हैं।
जिस प्रकार वात्सल्य-भाव में जननी शिशु को लेती है,
स्तन से स्पर्श वत्स-मुख होते धेनु दुग्ध दे देती है।
उसी प्रकार शिष्य की सेवा ही गुरु को उन्मुख करती।
गुरु की कृपा ज्ञान देती है, विविध ताप-संकट हरती।
गुरु प्रसन्न होने पर अपना मर्म प्रकट कर देते हैं।
समुचित अवसर पर अन्तर में चिदालोक भर देते हैं।
दे देते वह बीज ज्ञान का, जो सुकाल में फलता है।
कोई गुरु का प्यारा ही गुरु-सेवा-पथ पर चलता है।
गुरु का वाक्य अचल मानोगे, गुरु की आज्ञा पालोगे,
तो पा लोगे निश्चय विद्या, यदि गुरु-वचन न टालोगे।
गुरु से बढ़कर देव न कोई, गुरु से बढ़कर मन्त्र नहीं।
है त्रिलोक में मुक्त, किन्तु है गुरु के निकट स्वतन्त्र नहीं।
श्रद्धा ही वह, पात्र कि जिसमें गुरु की करुणा ढलती है।
श्रद्धा ही उर्वरा भूमि वह, जिसमें विद्या फलती है।
और नहीं, तो ऊसर में कब कोई बीज पनपता है?
श्रद्धा-भक्ति-शून्य उरमरु में सिकता-माला जपता है।
माता-पिता जन्म ही देते, गुरु वह विद्या देता है,
जिसे प्राप्त कर मानव दुर्लभ जन्म सफल कर लेता है।
पावन गुरु-पद-कमल छोड़ जो व्यर्थ भटकता है वन में।
वज्र मूर्ख वह निराधार चिर-शान्ति नहीं पाता मन में।

सर्ग ३

गुरु-शुक्रोपासन

शरद् की श्री ने तरंगित कर दिया आकाश।
काश-वन में खिल उठा उज्ज्वल प्रकृति का हास।
चमचमाते आ गये छवि-रश्मियों के बाण।
हो चली युवती निशा, शिशु हो गया दिनमान।
मेघ-मण्डप से तिरोहित बज्रमय निर्घोष।
खो गया उद्दाम झंझा-वायु का आक्रोश।
दिवस के निर्मल मुकुर में रूप सद्यस्नात
सुन्दरी तरुणी धरा की देखती अवदात।
कर लिया सीमित नदी ने कूल का सुदुकूल।
डोलने भूपर लगी शीतल पवन अनुकूल।
सरस सरसी से सरोरुह सुरभि-सुषमा-शान्ति।
वितरते शत-शत दलों में अमल-कोमल-कान्ति।
भ्रमर करते हैं भ्रमण, सौन्दर्य का अनुवाद।
तरुण कस्तूरी-मृगों को हो गया उन्माद।
हरित दूर्वादल-उदधि में सीपियों से हीन
तरते हैं मोतियों के दीप छवि-तल्लीन।
उदित हो घटयोनि ने पथ कर दिया निष्पंक।
भर गया नभ-कुड्मलों से यामिनी-पर्यङ्क।

प्राण की शेफालिका से झड़ रहे मकरकन्द ।
शक्ति का आया महोत्सव, ज्योति का आनन्द ।

एक ऐसे ही दिवस में अमर-मन्दिर से उतर कर
कच वृहस्पति-पुत्र पहुँचा दनुज-नगरी में मनोहर ।
दूर से ही देख कंचन-कलश भवनों पर चमकते,
कर लिया अनुमान कच ने, दैत्य-वैभव को दमकते ।
व्योम-चुम्बी हर्म्य, जो है उपनगर प्रत्येक नूतन ।
मार्ग पर मधुमक्षिकाओं-से अपरिमित लोक-गुञ्जन ।
दृष्टि जाती है जिधर, जन चीटियों से चल रहे हैं ।
और दिन में भी भवन में दीप मणि के जल रहे हैं ।
राज-पथ पर आ गया कच, एक नव प्रासाद देखा ।
पर न पायी दैत्य-गुरु की एक भी आलोक-रेखा ।
फिर किसी ने जब पता आचार्य का परिचित बताया,
तब तपोवन में नगर से दूर कच अविलम्ब आया ।

शान्त तमसा-तीर पर एकान्त में आश्रम बना था ।
घेर चारों ओर से वन आम्र-कदली का घना था ।

पर्ण की सुन्दर कुटी थी, पुष्प-पल्लव से सुशोभित।
दिव्य उस वातावरण में प्राण हो जाते विमोहित।
बाल-मृग के साथ क्रीड़ा-मग्न थे शिशु सिंह सुन्दर।
और शोभित थे मयूरी-कण्ठ में अहि हार बन कर।
मन्द-नीरव चरण से चल, द्वार पर कच ने पुकारा।
"कौन ?" उत्तर शीघ्र आया एक कोमल शब्द-द्वारा।
शब्द क्या ? ऋतुराज-वन में कोकिला का बोल कोई।
तार वीणा के बजे या अमृत लाया घोल कोई।
चकित हो कच ने विलोका, मूर्त्ति जो सम्मुख खड़ी है।
किन्नरी है ? अप्सरी है ? या दनुज-नर-सुन्दरी है।
दृष्टि मिलते ही न जाने कौन आर्कषण जगा है ?
स्नेह का शर कौन सरसिज-हृदय में कोमल लगा है ?
जागता परिचय युगों का आज पहले ही मिलन में।
स्वप्न शत-शत जन्म का साकार होता एक क्षण में।
सिन्धु वह सौन्दर्य का जो आज उमड़ा आ रहा है,
सृष्टि में लावण्य का मधुमास जो लहरा रहा है,
उस पलाशी-पुष्प-ज्वाला से हृदय कच का विकल है।
साधना के द्वार पर यह दानवी कोई न छल है ?
अंगना का अंग अनुपम स्वर्ण-साँचे में ढला है।
पूर्णिमा की शर्वरी में षोडशी शशि की कला है।
सन्धि–बेला में मनोहर देह–लतिका खिल रही है।
बाल–यमुना–धार से तारुण्य–गंगा मिल रही है।

ब्रह्मचारी कच सकुच अवलोक सहसा डोलता है।
किन्तु, तत्क्षण ही सँभल कर वचन कोमल बोलता है—

"मैं वृहस्पति-पुत्र कच हूँ आ रहा अमरावती से।
दर्शनार्थी, शीघ्र मिलना चाहता आचार्य—श्री से।
तुम बताओ, कौन हो ? हे देवि, क्या परिचय तुम्हारा ?
किस हृदय की ज्योति हो ? किस प्रेम की आनंद-धारा ?"
मुस्कुरायी सुन्दरी, मानो उषा उमड़ी क्षितिज पर।
दन्त दाडिम—से, अधर अरुणाभ पल्लव-से मनोहर।
"मैं सुता आचार्य—श्री की, नाम मेरा देवयानी।
अनबिंधे कौमार्य-मोती की विभा हूँ आसमानी।
देव-पूजन के लिये मैं हूँ असूँघी फूल-माला।
मैं अछिञ्जल हूँ अछूती आरती की दीप-ज्वाला।
मैं तपस्या की हिमानी शक्ति, जीवन में जगी हूँ।
और मैं अपने पिता की चरण-सेवा में लगी हूँ।

"पुष्प-समिधा-संचयन, प्रतिमान-पूजन-पात्र-मज्जन।
कार्य हैं मेरे अतिथि-सत्कार, आश्रम का निदेशन।

"आज तक एकाकिनी थी। अब तरुण, तुम आ गये हो।
प्रभु-कृपा का मेघ बनकर इस विजन में छा गये हो।
स्वागतम्। शत-बार अभिनन्दन, तुम्हें शत बार वन्दन।
हे अमर-गुरु-पुत्र, दानव-गुरु-सुता का लो निवेदन।
हैं पिता ही बन्धु मेरे और गुरु, जननी वही हैं।
विश्व-पारावार में अवलम्ब सन्तरणी वही हैं।
आज से हम दास दो उनकी सदा सेवा करेंगे।
हे सुहृद, आओ, पधारो। गुरु तुम्हें स्वीकार लेंगे।
सत्पुरुष के प्रथम दर्शन ही प्रभावित प्राण करते।
दूर से ही मलय-गिरि-चन्दन सुरभि का दान करते।
गुरु-कृपा की प्राप्ति में निश्चय बनूँगी मैं विधायक।
और तुम आचार्य-सेवा में बनो मेरे सहायक।
सुहृद, किंचित् काल में ही सुमन अन्तर के खिलेंगे।
देव-पूजन शेष कर आचार्य-श्री तुमको मिलेंगे।
अतिथि, तुम इस बीच में श्रम मार्ग का तब तक मिटा लो।
स्नान-संध्योपासना कर समुद फल-मिष्टान्न पा लो।"

समितपाणि कच हुआ उपस्थित गुरुवर-चरणों में सादर।
नतमस्तक करबद्ध प्रणति कर बोला सविनय कोमल-स्वर—

"हे आचार्य देव, मैं सुर-गुरु -सुत कच हूँ, शिक्षार्थी हूँ।
श्री-चरणों का किंकर हूँ, भवदीय कृपा का प्रार्थी हूँ।
यही निवेदन है कि शिष्य को चरणों में स्वीकार करें।
सेवा का अधिकार मधुर दे, सेवक का उद्धार करें।"
भू पर कच हो गया दण्डवत् चरण स्पर्शकर कविवर का।
उमड़ पड़ा यह भक्ति देखकर भाव शुक्र के अन्तर का।
कच को तत्क्षण उठा हृदय से लगा लिया पुलकाकुल मन।
मिलन विवेक-ज्ञान का मानो, योग हुआ यह मणि-कांचन।
गद्‌गद् कण्ठ कहा गुरुवर ने—"चिर कल्याण तुम्हारा हो।
मैं प्रसन्न हूँ तुमसे। सुख का नद उमड़ा शत-धारा हो।
सौम्य, आज से तुम इस गृह में मेरे प्रिय सहवासी हो।
अतिथि नहीं, अब तो जीवन के सहचर हो, मधुहासी हो।
सुर-गुरु-कुल के दीप, कामना निश्चय पूर्ण तुम्हारी हो।
तुम सुयोग्य हो, तुम सुपात्र हो, विद्या के अधिकारी हो।
विद्या-दान करूँगा तुमको मैं सहर्ष ओ अनुरागी।
तुम्हें देखकर मेरे मन में युग-युग की आशा जागी।
वक का ध्यान, काक की चेष्टा, श्वान-शयन, अल्पाहारी।
गृहत्यागी, आज्ञा का पालन, ब्रह्मचर्य—ब्रत-आधारी।
विद्योपासक के लक्षण हैं, साधन एक तपस्या है।
कुशल नहीं जो इन कर्मों में, उसके लिये समस्या है।
श्रद्धा का सुन्दर फल विद्या, सत्-चरित्र विद्या-फल है।

सत्-चरित्र ही किसी देश का रुधिर, प्राण, जीवन-बल है।
इसी महत् बल से ही अन्तिम विजय समर में मिलती है।
यही हिमालय की आत्मा है, जो न स्थान से हिलती है।
किन्तु वत्स कच, तुम विनीत हो, तुम जिज्ञासु हृदय-कोमल।
तत्परता, इन्द्रिय का संयम, गुरु के प्रति श्रद्धा अविचल।
विद्या-लाभ करोगे निश्चय, मेरी मति यह कहती है।
मिलता है परिणाम, भावना जिसकी जैसी रहती है।
यद्यपि तुम हो शत्रु-पक्ष के, ज्ञान-प्राप्त कर जाओगे।
दानवारि-दल को विद्या का परम लाभ पहुँचाओगे।
और शुक्र की नीति नहीं यह किसी भाँति भी कहती है—
"अपना अहित और हित अरि का ?" रीति कहाँ यह रहती है
अपनी नाक कटा कर कोई शकुन बनाता कब पर का ?
दीपक ले औरों को देता क्या कोई अपने घर का ?
देव-दर्प का दलन दानवों के द्वारा करवाता मैं।
लोक-विदित मैं दैत्य-पुरोहित, अपना आप विधाता मैं।
कहीं गुप्तचर हो न किसी के या कोई दैवी माया ?
वलि के सम्मुख क्या न स्वर्ग से कपटी वामन था आया ?
किन्तु, तुम्हारी सरल प्रकृति में कृत्रिमता का वास नहीं।
तुम-सा कोई मायावी हो, होता यों विश्वास नहीं।
सुता देवयानी के द्वारा मिला तुम्हारा जो परिचय,
उससे मेरे मन में कोई रही नहीं शंका, संशय।
फिर भी एक प्रश्न है, जिसका उत्तर तुमको देना है।

दश-शत वर्षों तक संकल्पित ब्रह्मचर्य-व्रत लेना है।
इतना धैर्य करोगे धारण ? कच, बोलो, क्या प्रस्तुत हो ?
रह सकते हो बज्र-वीर्य क्या उर्ध्व-रेत हो, अच्युत हो ?"
"इतनाही ?" कच बोलानतशिर-"मैं अभिमान नहीं करता।
गुरु-चरणों की कृपा मिले, तो नहीं काल से भी डरता।
दश-शत वर्षों की क्या वार्ता ? कोटि कल्प करता अर्पण।
अपर अल्प हो कोटि कल्प भी, तो अर्पित सारा जीवन।"
"साधु, साधु।" आचार्य शुक्र ने कहा हर्षमय अनुभव से—
"सौम्य, परीक्षात्तीर्ण हुए तुम पूर्ण-सफलता-गौरव से।
अब तुम शिष्य और मैं गुरु हूँ। पर आत्मा में भेद नहीं।
एक साथ विद्या-रत, भा-रत, प्रतिभा-रत हों, खेद नहीं।
गोशाला से खोल धेनुओं को कानन में ले जाओ।
और पूर्व सन्ध्या होने के, उन्हें चरा कर ले आओ।"
"जो आज्ञा।" कहकर प्रणाम कर, कच आनंद-विभोर चला।
गो-सेवा का प्रथम पाठ ले तत्क्षण वन की ओर चला।

सर्ग ४

सिद्धिदात्री देवयानी

श्रौर कच की श्रब यही श्रनुकूल दिनचर्या बनी थी।
धूप थे आचार्य, तो श्राचार्य-कन्या चाँदनी थी।
प्रखर रवि की रश्मियों से जब विकल होता हृदय था,
तब मधुर ज्योत्ना-सुधा का पान कर श्राता प्रणय था।
देवयानी के बिना कच का कहीं लगता न मन था।
श्रौर फिर कच के बिना उर देवयानी का विजन था।
प्रीति यह कैसी प्रबल दोनों किनारों में लगी थी ?
दिव्य दोनों ज्योतियों में एक ही ज्वाला जगी थी।

रूपसी श्राचार्यकन्या नव-किशोरी चिर-कुमारी।
श्रौर कच सुविकच सुमन, सौन्दर्य-सौरभ मत्तकारी।
प्रेंम था, एकान्त था, तारुण्य का मधुमास भी था।
श्रौर शुक्राचार्य का प्रच्छन्न श्राज्ञाभास भी था।
क्योंकि मानस-भाव गुरु का दे चुका था मौन इंगित,
गुरु-चरण के साथ सेवा गुरु-सुता की भी !श्रपेक्षित।
शिष्य हो या भृत्य, कोई भी भवन में जो नवागत,

देवयानी का करेगा सर्वथा सत्कार-स्वागत।
और यों भी तो सहज सन्तान का अधिकार होता
पितृ-धन पर, कौन यह परिधार का संस्कार खोता ?

थी पिता के प्राण की प्यारी, दुलारी देवयानी।
और सर्वोपरि उसीकी बात जाती थी प्रमानी।
टाल सकते थे न कविवर देवयानी के कथन को।
देख सकते थे न उसके अश्रु से विगलित वदन को।
मातृहीना बालिका को प्राण-पारावार देकर
पालते थे आ रहे आचार्य अपना प्यार देकर।
कार्य कोई शुक्र से हो, चाहती यदि देवयानी,
तो किसी को भी न कह सकती 'नहीं' आचार्य-वाणी।
फिर भला कच देवयानी को प्रभावित क्यों न करता ?
क्यों स्वयं सम्प्राप्त करुणा-वारि तज निष्प्राण मरता ?

कवि-हृदय जिसका समादर कर विपुल सुख मानता था,
कच भला उस देवयानी को न क्या पहचानता था ?
जानता था वह कि नर से शक्ति नारी की बड़ी है।

शक्तिधर आचार्य पर आचार्य-कन्या ही खड़ी है।
तो, चतुर कच कर न सकता था उपेक्षा गुरु-सुता की।
किस विचक्षण ने कभी की बात ऐसी मूर्खता की?
और फिर तो कच वृहस्पति-पुत्र, मेधावी, जितेन्द्रिय।
देवता-सन्देश-वाहक, बुद्धिशाली, साधना-प्रिय।
स्नेह शुक्राचार्य का भी वह अकारण पा गया था।
देवयानी के प्रणय की भूमिका में आ गया था।

कच किशोरी गुरु-सुता को सर्वदा सन्तुष्ट रखता।
उत्तमोत्तम फल प्रथम उसको खिलाकर आप चखता।
स्वर्ग का संगीत गाता, मुक्त होकर नृत्य करता।
देवयानी को मिले जिस भाँति सुख, वह स्वांग भरता।
देवयानी भी रिझाती ब्रह्मचारी सुर-प्रवर को।
छेड़ देती उँगलियों से मौन हर निष्क्रिय प्रहर को।
साधना की हर लहर को कामना का ज्वार देती।
कल्पना की हर दिशा को प्रेम का आकार देती।
स्वप्न से अभिसार करती, मर्त्य को शृंगार देती,
हर मनोरथ-पुष्प को ऋतुराज का उपहार देती
जा रही थी देवयानी वायु-मंडल में मचलती।
रेशमी लावण्य की दीपक-शिखा सुकुमार जलती।
और दनुजों के तरुण आश्चर्य से अवलोकते थे
देवयानी और कच को, पर न भय से टोकते थे।
उग्र शुक्राचार्य का आतंक ऐसा छा रहा था,
असुर कोई भी न साहस और अवसर पा रहा था।

देवयानी-कच मृगी-मृग-से ललित लीला-मधुर थे।
किन्तु, ईर्ष्या की दहकती आग से व्याकुल असुर थे।
सोचते थे, कौन यह चंचल कहाँ से धृष्ट आया ?
एक विद्युत-बाण-सा जो देवयानी में समाया।
गुरु-कृपा का पात्र सहसा बन गया आते-न-आते।
देर क्या लगती समादृत दास को स्वामीत्व पाते ?
फिर कहीं गुरुदेव की भी बुद्धि यह वानर न हर ले।
तोड़ मर्यादा कहीं व्यापार कुछ अनुचित न कर ले।
तो हिमालय-सा अचल प्रहरी हमारा कौन होगा ?
जब न रक्षक ही रहेगा, तब जगत भी मौन होगा।
हम कहाँ होंगे ? कहाँ फिर राज्य-श्री होगी विचंचल ?
छत्र-छाया जब नहीं रह जायगी गुरु की सुशीतल।
थे इसी चिन्ता-चिता की अग्नि-ज्वाला में धधकते।
तरुण दानव-गण घृणा-विद्वेष में अविराम पकते।
घूर्णि में सन्देह की विभ्रान्त उड़ते जा रहे थे।
पर, किसी से भी न कच का पूर्ण परिचय पा रहे थे।

एक दिन उसको अकेला देखकर एकान्त वन में
दौड़ कर घेरा दनुज के बालकों ने अशुभ क्षण में।
और पूछा—"कौन है ? किस लोक का वासी निराला
तू यहाँ आया हमारे कण्ठ में बन फूल-माला ?

तू मनोहर रूप, यौवन और श्री से ज्योति-निर्मल ?
किस लिये दानव-पुरी में आ गया है रक्त-मांसल ?
बन्धु, क्या उद्देश्य तेरा ? क्यों हमारे गुरु-भवन में
तू अतिथि बनकर रुका है प्रीति के कोमल चरण में ?"
यों कहा जब दानवों ने स्नेह-आप्लावित वचन से,
निष्कपट कच ने बताया भेद सारा सरल मन से।
आसुरी माया न समझी। जाल में फँस ही गया तो।
हाय, कच को नाग काला काल का डँस ही गया तो।
दुष्ट दानव-बालकों ने क्रोध से अभिभूत होकर
मार डाला देव-गुरु-कुल-दीप को सद्बुद्धि खोकर।
हाथ धोकर सुर-रुधिर से कर दिया भू को कलंकित।
देवयानी हो गयी अज्ञात घटना से सशंकित।

जब न सायंकाल तक भी कच विपिन से लौट आया,
गुरु-सुता का तब हृदय आसन्न भय से तिलमिलाया।
दौड़ कर पहुँची पिता के पास, बोली करुण स्वर में—
"देव ! आया कच न अब तक, लौट आयी धेनु घर में।
हो चुका सूर्यास्त, तिमिरावरण में डूबी धरा है।
कच न जाने, किस महा संकट-घटा में जा पड़ा है।
दूर से लौटे विहंगम नीड़ आकुल ढूँढ़ते हैं।
मार्ग निर्जन हो गया, वनजन्तु निर्भय घूमते हैं।

पर न कच का है पता, कोई न कुछ भी बोलता है।
मृत्यु-सी यह शान्ति है, कोई न तृण भी डोलता है।
हाय, लगता है कि कच को दानवों ने मार डाला।
जल रही मेरे हृदय में शोक की निर्धूम ज्वाला।
सत्य कहती हूँ, पिता जी, मैं इसी दुख में मरूँगी।
मैं नहीं कच के बिना क्षण-मात्र जीवित रह सकूँगी।
और यों कहकर विकल रोने लगी आचार्य-कन्या।
अश्रु का आवेग, ज्यों आषाढ़ की उद्दाम वन्या।

देवयानी की विकलता देख कवि के प्राण डोले।
सान्त्वना के स्निग्ध शब्दों में मनोगत भाव बोले—
"जानता हूँ स्नेह तू जो पुत्रि, कच को कर रही है।
ज्ञात है अनुराग, तू जिसके विरह में मर रही है।
पर, अलौकिक प्रेम इस संसार में मिलता नहीं है।
देहगत सम्बन्ध सारे, मन-कमल खिलता नहीं है।
फिर कहाँ आत्मा ? शिखर पर कौन पहुँचा शूर-साधक ?
चिर-मिलन में विश्व का प्रत्येक है परमाणु बाधक ?
रो न, व्याकुल हो न। नयनों को सलिल से धो न अब तू।
मृत्यु की ऊसर धरा में अश्रु-मुक्ता बो न अब तू।
कौन-सा दुर्भाग्य बदला है किसी का कब रुदन से ?
मिल गयी है शान्ति किस को आत्म-घाती हिम-किरण से ?

मृत्यु-मुख में जा चुका कच, तृप्ति दानव पा चुके हैं।
सिंह, चीते, भेड़िये सब मांस उसका खा चुके हैं।
किन्तु, चिन्ता कर न तू हे देवयानी, मुस्कुरा दे।
मुस्कुरा दे हे सुकवि की मूर्त वाणी मुस्कुरा दे।
जी उठेगा कच अभी, तू भी नहीं फिर मर सकेगी।
मृत्यु को संजीविनी विद्या पराजित कर सकेगी।
देख तू अब शक्ति मेरी, बोलता हूँ मैं यहीं से।
और कच आ जायगा, होगा जहां, निश्चय वहीं से।

दिव्य मंत्रोच्चार-पूर्वक वारि से अभिषिक्त कुश को
शुक्र ने कर में लिया, फिर आचमन कर, फेंक उसको
एक परिनिश्चित दिशा की ओर, अभिमुख हो निहारा।
और कच को उच्च स्वर से मुक्त 'हो हो' कर पुकारा।
वह गिरा उद्दाम गूंजी दूर तक वन-घाटियों में।
ध्वनि गिरी, प्रति-ध्वनि उठी अविराम पर्वत-पाटियों में।
घोष पर प्रतिघोष कीचक-रन्ध्र में यों भर रहे थे,
सजल श्रावण-मेघ, मानो व्योम कम्पित कर रहे थे।
या तरंगों पर तरंगें उठ रही थीं सिन्धु-जल में।
नाद शुक्राचार्य का गूँजा त्रिलोकी-मर्मतल में—
"कच, कहाँ हो तुम ? जहाँ भी हो, वहीं से तात, बोलो।
शीघ्र आ जाओ यहाँ, अप-मृत्यु का हिम-द्वार खोलो।"

श्रौर 'हो हो' कर विघूर्णित नाद फिर गूँजा विजन में-
"कच, यहाँ, अविलम्ब आओ, तुम अभय मेरी शरण में।"

दूर से किस ध्वान्त ने उतर दिया सीमान्त स्वर में—
"आ रहा गुरुदेव, मैं कच आ रहा जीवित प्रहर में।"
एक विद्युत-सा क्षितिज के भाल पर चमका अखण्डित।
हो गयीं सारी दिशाएँ रश्मियों से पूर्ण-मण्डित।
और लो, आ ही गया मधु स्वप्न-सा, कवि-कल्पना-सा।
हो गयी साकार शुक्राचार्य की जीवन्त भाषा।
नाद अथवा रूप, पहले इस धरा पर कौन आया?
देखकर कच को अचानक प्रश्न यह मन में समाया।
"आ गये कच?" मुस्कुरायी देवयानी हर्ष-विह्वल।
यों अधर पर हास, नयनों में भरा था प्रीति का जल।
सुर-धनुष मानों लिखा हो मेघ-मालामें मनोहर।
दण्डवत् कच हो गया गुरु के पदों में मुग्ध होकर—
"आपकी महती कृपा से पुनर्जीवन पा गया हूँ।
वन्य पशुओं के उदर को फाड़कर मैं आ गया हूँ।"
"ये दनुज हैं दुष्ट।" शुक्राचार्य ने कच को बताया—
"सावधानी से रहो। ये जानते हैं कपट-माया।"
देवयानी ने कहा—"दुर्भाग्य यह आने न दूँगी।
आज से एकान्त वन में मैं तुम्हें जाने न दूँगी।"

सर्ग ५

जीवन-मरण-संघर्ष

इस प्रकार गुरु-गृह में रहते कच के बीते शत वत्सर।
शत वसन्त, शत पावस आये ले सुख-सुषमा का निर्झर।
पिता और पुत्री, दोनों के स्नेह-पाश से बद्ध हुआ
कच अक्लान्त निरालस विद्योपासन में सन्नद्ध हुआ।
कब सूर्योदय हुआ और कब अस्तंगत दिनमान हुआ ?
सेवा के शुभ-पथ पर कच को इसका कभी न भान हुआ।
छाया-सी आचार्य-बालिका कच के पीछे फिरती थी।
नयनों की पुतली में उसकी छबि तितली-सी तिरती थी।
ऐसी दीप-शिखा वह, जिसका स्पर्श न कोई कर सकता।
हिम की वह प्रतिमा, न जिसे नर आलिगन में भर सकता।
फिर भी जिसमें कोई अद्‌भुत चुम्बक-सा आर्कषण था।
ज्वाला का इन्दीवर, केवल मधुवर्षण, प्रियदर्शन था।
कभी हंसिनी-सी तिरती थी सरिता के चंचल जल में।
कभी बाँध कर ले आती थी नील-कमल-दल आँचल में।

कच के साथ कभी भूले पर मलयानिल बन जाती थी।
कभी वसन्त-निकुंजों में बन कोकिल रस बरसाती थी।
वेणु बजाता कच, तो करती नृत्य देवयानी सुन्दर।
वन-वन में छा जाता नूपुर-गुंजन का उन्मादक स्वर।

कच को भेजा गुरु-कन्या ने कुसुम-चयन-हित मधुवन में।
उस दिन फिर मिल गये दनुज-गण, जाग उठी हिंसा मन में।
कच को मार, पीस कर तन को फेंक दिया जलधारा में।
प्राण-तत्व हो गये प्रवाहित वरुण-देव की कारा में।
आया जब सन्देश न कोई, बोला दक्षिण—पवन नहीं।
हुई देवयानी फिर व्याकुल, लौटा कच जब भवन नहीं।
पूज्य पिता के श्री-चरणों में पहुँची नम्र निवेदन ले।
फिर कच को जीवित कर लाये शुक्रदेव संजीवन ले।
एक बार फिर पुण्याश्रम में जीवन का जयघोष हुआ।
गुरु-पुत्री को एक बार फिर शान्ति मिली, सन्तोष हुआ।
कहा देवयानी ने कच से—"दूर भवन से मत जाओ।
आश्रम में ही रहो, सुमन, मन सीमा में ही बहलाओ।
इस घेरे के भीतर कोई शत्रु नहीं है आ सकता।
यदि धोखे से आ जाये, तो जीवित लौट न जा सकता।
क्षेत्र सुरक्षित है यह ऐसा, वज्र नहीं टकराता है।
शुक्र-तेज से काल-दण्ड भी पिघल मोम बन जाता है।"

उस दिन राजभवन में कोई उत्सव था, अभिनन्दन था।
शुक्रदेव को दनुजराज का सुता-सहित आमन्त्रण था।
मध्य-रात्रि तक गीत-नृत्य का बहता रस-कल्लोल रहा।
अभिनय की आनन्द-माधुरी, प्रहसन का हिन्दोल रहा।
कच एकाकी अविकल प्रहरी-सा जाग्रत था आश्रम में।
सहसा कोई आर्त-भीत स्वर करुणामय गूँजा तम में।
लगा कि जैसे धेनु-वत्सला गुरुवर की प्यारी बोली।
मृत्यु-वेदना से व्याकुल हो मानो, वसुन्धरा डोली।
और उसी क्षण एक सिंह का भीषण गर्जन भी आया।
जो कच के प्राणों से शत-शत प्रतिघोषों में टकराया।
कच ने किया विचार, पाप यह गोबध का कैसे लेगा?
यदि न धेनु को बचा सका, वह गुरु को क्या उत्तर देगा?
फिर कर्तव्य स्पष्ट है, चाहे मूल्य चुकाना क्यों न पड़े।
गोरक्षा करनी ही होगी, प्राण गँवाना क्यों न पड़े।

निमिष-मात्र में सोच, दण्ड ले मर्माहत कच दौड़ पड़ा।
प्रवल वेग से अन्धकार का वक्ष चीर यौवन उभड़ा!
प्रतिध्वनित हो गये भयानक कच के स्वर ललकार-भरे।
निशा-गुहा में पड़ें दिखायी दो लोचन अंगार-भरे।
आश्रम के उपवन की सीमा से बाहर ज्यों कच आया,
त्यों ही भीम भयंकर दनुजों के दल को प्रस्तुत पाया।

कहाँ सिंह था ? कहाँ धेनु थी ? एक दानवी माया थी।
अस्त्र-शस्त्र से सबल-सुसज्जित सर्वनाश की छाया थी।
इस प्रकार अज्ञात भाव से निर्भय कच सुकुमार-सरल।
चाण्डाली चंगुल में फँस कर खो बैठा संज्ञा-सम्बल।
असुरों ने इस बार जला कर कच को भस्मीभूत किया।
और पेय में उसे मिला आचार्य-देव को पिला दिया।

राजभवन से सुता-सहित आचार्य लौट आश्रम आये।
नयनों से निद्रा के बादल अंग-अंग में मँड़राये।
शुक्ल-पक्ष की चतुर्दशी का चन्द्र-वदन था कुम्हलाया।
पर्ण-कुटी के लता-द्वार तक राज-सारथी रथ लाया।
उतर पड़े गुरुदेव, देवयानी भी छोड़ चली रथ को।
काली एक बिड़ाली जाने कैसे लाँघ गयी पथ को।
अश्व घोष कर उठे अकारण, कर्कश-मुखर उलूक हुआ।
दूर क्षितिज पर रथ का घर्घर स्वर निमग्न चिर-मूक हुआ।
दिग्दिगन्त में एक भयानक सन्नाटा-सा था छाया।
कहाँ गया कच ? उसे हुआ क्या ? नहीं अभी तक क्यों आया ?
अशुभ कल्पना मानस को क्यों बार-बार झकझोड़ रही ?
यह श्मशान-सी शान्ति धैर्य के कूल बन्ध को तोड़ रही।
"ओ कच।" बोले शुक्र, देवयानी चिल्लायी—"भाई रे।"
किन्तु, न कोई बोला, केवल प्रति-ध्वनि बोली—आई रे।"

"यह परिहास छोड़ दो, निर्मम।" गुरुकन्या बोली कातर—
"आओ, कच, आ जाओ मेरे कच।" न मिला कोई उत्तर।
घर का कोना-कोना ढूँढ़ा आशा का दीपक लेकर।
आश्रम, उपवन, गोशाले में पहुँचा दूत प्रणय-निर्भर।
किन्तु, किसी ने किया न स्वागत, कहीं नहीं संधान मिला।
कच न मिला, हो गयी शर्वरी शेष, क्लेश-दिनमान मिला।
हृदयानन्द-सरोवर की परिपूर्ण कुमुदिनी म्लान हुई।
मूर्च्छा के मृदु बाहु-पाश में गुरुकन्या हत-ज्ञान हुई।
प्रबल वेदना की आँधी जब अन्तर्तम में चलती है,
जब प्राणों के वन में दारुण दावानल-सी जलती है,
जब न मरण भी चरण बढ़ाता, शरण न पृथ्वी देती है,
तब अपने निःसंज्ञ अंक में मृत्यु सोदरा लेती है।
जिसके शान्त-सुशीतल आश्रय में मानव सुख पाता है।
शोक-मोह का वज्र-घोष चिर-विस्मृत-सा हो जाता है।
मूर्छा के चिर अन्ध-बन्ध से गुरुकन्या उन्मुक्त हुई।
जाग उठी फिर मोह-वेदना, जो अब तक थी लुप्त हुई।
लेकर कच का नाम बोलने लगी भ्रान्ति-विगलित वाणी।
धीर और गम्भीर स्वरों में बोले शुक्र—"देवयानी,
नश्वर जग के लिये नहीं नर बुद्धिमान् चिन्ता करते।
जो लेते हैं जन्म किसी दिन, वे अवश्य ही हैं मरते।
ब्रह्मा से लेकर कीटों तक सभी मृत्यु-मुख में जाते।
इन्द्र, वरुण, यम आदि अमर जो देव-लोक में कहलाते,

है सापेक्ष अमरता उनकी भी, तरंग ज्यों सागर में !
पुष्प लता में, बिम्ब मुकुर में और पत्र ज्यों तरुवर में।
देवों का पद अमर बना है, देव बदलते रहते हैं।
शाश्वत एक वही है केवल, जिसको ईश्वर कहते हैं।"
कहा देवयानी ने रोकर—"फिर क्या कच न मिलेगा, तो ?
पिता, आपके रहते हाय, न जीवन-पुष्प खिलेगा ? तो,
संजीविनी व्यर्थ हैं, जग को कैसे मुख दिखलाऊँगी ?
अगर नहीं कच को पाऊँगी, तो मैं भी मर जाऊँगी।"

पुत्री का हठ अटल देखकर कहा शुक्र ने—"धैर्य करो।
कच का आया अन्त, न जीवित होगा, हन्त, न शोक करो।
कच के ही कारण मेरा भी करते असुर विरोध प्रबल।
प्रबल रूप से किन्तु न उनकी दाल अभी पाती है गल।
अपनी विद्या के प्रभाव से कच को जीवित कर देता।
किन्तु, दनुज-दल दुर्मद उसके प्राण हरण कर ही लेता।
मैं क्या करूँ ? विवश, लगता है कच का मरण-समय आया।
पुत्रि, मोह-वश शोक करो मत।" गुरुवर ने यों समझाया-
"अमर भाव को प्राप्त कुमारी, लता असूर्यम्पश्या हो।
ब्रह्म यज्ञ की पावन आहुति, कवि की सफल तपस्या हो।
एक मरण-धर्मा जीवन के लिये शोक है उचित नहीं।
यों किसको विद्या की महिमा, मेरी प्रभुता विदित नहीं ?

मेरे कारण पुत्रि, तुम्हारा जगत समादर करता है।
दनुज, देवता या वसु पुष्पाञ्जलि चरणों में धरता है।
कर न सकूँगा कच को जीवित मैं इस बार, देवयानी।
क्षमा करो मुझको, तुम कच की ममता त्यागो, कवि-रानी।

कहा देवयानी ने—"कोई कच साधारण पुरुष नहीं।
निष्कलंक शशि, स्पर्श किया है जिसे मर्त्य का कलुष नहीं।
देव-मुकुट-मणि और वृहस्पति-तनय, तपोनिधि, तरुणविमल।
कच अवश्य हा पुरुषार्थी है कर्मोद्यत, व्यवहार-कुशल।
मुझे बहुत ही प्यारा है वह, उसके बिना न जी सकती।
कच के जीवन-हित मैं सुख से तीक्ष्ण गरल भी पी सकती।"
कहा शुक्र ने "अच्छा, तो यदि यही तुम्हारा निश्चय है।
एक बार फिर प्रेम-देव की मृत्यु-यामिनी पर जय है।
दनुज क्रूर-कर्मा हैं सारे, मदिरोन्मत्त प्रलापी हैं।
ये मेरे निर्दोष शिष्य के हत्यारे हैं, पापी हैं।

अपनी दुष्प्रवृत्ति से मुझको कंकट-वन में खींचेगे।
चिर उज्ज्वल मेरे चरित्र पर पंक-कलंक उलीचेंगे।
किन्तु, नहीं अपने मस्तक पर पाप-पंक मैं यह लूँगा।
प्रिय अनुरोध तुम्हारा रख मैं कच को जीवित कर दूँगा।"
शुक्र सांत्वना दे कन्या को इस प्रकार ललकाउ रठे—
"कच हो कहाँ। चले आओ तो।" हो-हो-नाद पुकार उठे।

सर्ग ६

संजीविनी-संसिद्धि

प्रति दिशा में हो गयी प्रति-ध्वनित गुरु-गम्भीर वाणी।
व्योम आलोड़ित हुआ, कल्लोल-कल-कम्पित वनानी।
सिन्धु मन्थित, शैल कम्पित, कन्दरा में घोष छाया।
विकल त्रिभुवन हो गया, पर कच नहीं बोला, न आया।

व्यर्थ क्या हो जायगी संजीविनी विद्या नहीं तो ?
काँपते हैं लोक तीनों आज, कच बोले कहीं तो ?
मन्त्र-पावन वारि से कर आचमन गुरु ने पुकारा।
"आज यदि आया न कच, तो भस्म होगा विश्व सारा।
जानती संजीविनी विद्या प्रलय-अभिसार करना।
ज्ञात है मुझको अमृत के साथ विष-संचार करना।"
शुक्र ने कहकर उठाया यों सजल अपना कमण्डल।

कर दिया हुङ्कार-गर्जन, हो गया डगमग खमण्डल।
और लो, सन्देश आया एक तत्क्षण क्षीण स्वर में—
"मैं यहाँ गुरुदेव हूँ, श्रीमान् के ब्राह्मी जठर में—
किन्तु, कैसे मैं द्विजोदर फाड़ बाहर हो सकूँगा ?
विप्र-गुरु-बध का भयानक पाप कैसे ढो सकूँगा ?
छोड़ इसको अन्य कोई स्थान होता यदि भुवन में,
तो, न बाधा-विघ्न की चट्टान होती आगमन में।
वज्र का भी भेद वक्षस्थल निमिष में ही उछलता।
तोड़ बुद्बुद-बीज जैसे वायु का अंकुर निकलता।
किन्तु, अब तो मैं पड़ा हूँ द्वन्द्व के वातावरण में।
हो रहा संघर्ष दुर्दमनीय-सा जीवन-मरण में।

क्या करूँ गुरुदेव, मैं ? आलोक पथ का खो गया है ।
बुद्धि है दिग्भ्रान्त, मानस मोह-विह्वल हो गया है ।"
"तुम अरे, मेरे उदर में ? कच, कहो कैसे समाये ?
मृत्यु के मुख में भयानक तुम अहो, किस भाँति आये ?
घोर है आश्चर्य ।" बोले शुक्र—"अद्भुत असुर-माया ।
और तब आचार्य को वृत्तान्त कच ने सब बताया ।
सुन कथा सम्पूर्ण बोले शुक्र—'तो, उन्माद-मण्डित
दनुज आ पहुँचे यहाँ तक सर्वथा पाखण्ड-खण्डित ?
सिंह से ही बैर ? योगी से चले धुरखेल करने ?
देख लूँगा मैं उन्हें अच्छा ।" कहा आचार्यवर ने
देवयानी से—"सुकन्ये, प्रिय करूँ कैसे तुम्हारा ?
मृत्यु मेरी ही करेगी मुक्त कच की प्राण-धारा ।
हो नहीं सकता बहिर्गत कच बिना फाड़े उदर को ।
इस परिस्थिति में हरूँ कैसे तुम्हारे शोक-ज्वर को ?"
देवयानी ने कहा—"मेरे लिये दोनों विघातक ।
आपकी हो मृत्यु अथवा नाश कच का, घोर पातक ।
दुःख की दावाग्नि दोनों ओर से मुझको जलाती ।
मैं नहीं कल्याण अपना लोक में अवलोक पाती ।
कच न जीवित हो सका, तो शोक से रो-रो मरूँगी ।
आपकी अपमृत्यु से कैसे भला जीवन वरूँगी ।
इसलिये, अब हे पिता जी, आप ही सत्पथ दिखायें ।
डूबती है नाव जो मँझधार में, उसको बचायें ।
शुक्र बोले—"तो वही हो, जो सकल—कल्याणकारी ।
कवि-कुमारी, पूर्ण हो तत्काल अब इच्छा तुम्हारी ।"
और फिर कच को पुकारा, सुन रहा था जो उदर में ।

झूलता आशा-निराशा के विषम भीषण भँवर में।
"आज मैं संजीवनी विद्या तुम्हें सानन्द दूँगा।
और अपनी भाँति तुमको सिद्ध मैं इसमें करूँगा।
फिर उदर को चीर निःसंकोच बाहर निकल आओ।
और तब संजीवनी से सिद्ध मुझको भी जिलाओ।"
"आह किसने यह मधुर आनन्द-वाणी है सुनायी?
क्या स्वयं गुरुदेव ने ही यह परम करुणा दिखायी?
क्या मनोरथ पूर्ण होगा आज मेरे निष्क्रमण का?
फल मिलेगा आज क्या सुन्दर-सुभग मेरे मरण का?
धन्य ऐसी मृत्यु भी, मंगलमयी जो हो गयी है।
जो विधाता का मधुर वरदान लेकर सो गयी है।
दानवों ने यों किया उपकार ही, मैं मानता हूँ।
शत्रुता उनकी नहीं, आभार ही मैं मानता हूँ।
चिर-तपस्या की लता में खिल गयी महिमा-कली है।
साधना अब फलबती आजन्म की होने चली है।
ढूँढ़ता हूँ मैं जिसे, वह विजयिनी प्रज्ञा कहाँ है?
जो मृतक को दे जिला, संजीविनी विद्या कहाँ है?
ज्योति-विद्युद्धारिणी-सी है कहाँ वह प्राण-धारा?
जो तुषारावृत रुधिर की तोड़ दे हिमबज्र-कारा?
स्वर्ग में है अमृत, जिसका पान कर अमरत्व मिलता।
स्वर्ग में है कल्पतरु, जिसमें अमरता-पुष्प खिलाता।
किन्तु, जो दुर्लभ अमर के लोक में भी मोहिनी है।
मृत्यु के संसार में वह कौन सी संजीविनी है?"
शुक्र-जठरानल-विकल कच ने किया जब यों निवेदन,
तब कहा आचार्य-श्री ने प्रिय वचन विज्ञान-वर्द्धन—

'है अमृत मृत का विपर्यय, शुद्ध संज्ञा का निकेतन।
जो अचेतन हो चुके, उनको बनाता है सचेतन।
और जिनमें चेतना, उनको अमरता दान करता।
चिर-युवापन और चिर-यौवन उन्हें अनुपम वितरता।
एक ऐसी चेतना है अमृत, जिसमें शान्ति केवल।
और है अमरत्व में परिपूर्ण शशि-सी कान्ति केवल।
किन्तु, इस संजीविनी में शक्ति-स्फूर्जित चेतना है।
है नहीं अमरत्व, केवल क्रान्ति की अभिव्यजना है।
है सुधा दक्षिण—पवन, संजीविनी आँधी अनल की।
सिन्धु की मद-गर्जना, उन्मादिनी झंझा गरल की।
यदि सुधा सुर-बालिका शेफालिका अनुरागिनी है।
तो सजग संजीविनी उदीप्त काली नागिनी है।
मृत्यु का विपरीत जीवन और जीवन तो समर है।
क्या इसे सुरलोक में अनुभव कभी करता अमर है।
दिव्य भोगों में निमज्जित जो पड़ा आकण्ठ रहता,
जो अमर सौन्दर्य-सरिता में अकुण्ठित-प्राण बहता,
कामना प्रत्येक जिसकी पूर्ण मन की हो चुकी है,
वासना जिसकी सुधा से हाथ अपना धो चुकी है,
वह करे, तो क्या अमर-आनन्द-नन्दन-वन-बिहारी ?
जब पुकारा, तब चले आये सुदर्शन-चक्र-धारी।
मृत्यु भौतिक चेतना का मात्र लय ही न केवल।
किन्तु, मूर्छा, स्वप्न, निद्रा आदि भी हैं मृत्यु-समतल।

और जीवन भी नहीं है मात्र केवल चेतना ही।
प्रेम, आशा, वीर्य, बल, उत्साह की उत्प्रेरणा भी।
तो, यही संजीविनी समझो, जहाँ यह जागती है।
मृत्यु भी उस स्थान से भयभीत होकर भागती है।
पाप हैं अविपूर्णता ही, मृत्यु का कारण वही है।
पूर्णता ही पुण्य पावन और चिर-जीवन वही है।
क्षण सफलता या विफलता से नहीं पथभ्रष्ट होना।
कूल हो अनुकूल या प्रतिकूल, ध्रुव सम्मति न खोना।
है अगति ही मृत्यू, गति का नाम ही जीवन कहा है।
एक ही जल दो किनारों से प्रवाहित हो रहा है।"

ज्यों तिमिर को भेद नभ में पूर्णिमा का चन्द्र आता,
अण्ड गोलक तोड़ अण्डज जीवधारी शिर उठाता,
प्राप्त कर संजीविनी कच चीर कर गुरु-उदर आया।
और कवि की हो गयी क्षण-मात्र में निर्जीव काया।
दक्षिणा में कर दिया जीवित जिसे तत्काल कच ने।
मृत्यु के सिर पर लगी संजीविनी की फाग मचने।
एक विद्या से पुनर्जीवित हुए हैं तीन प्राणी।
शिष्य कच, आचार्य-कवि-श्री शुक्र, दुहिता देवयानी।

सिद्ध-विद्यालाभ कर कच ने कहा गुरु को नमन कर—
"आज मैं कृतकृत्य हूँ गुरुदेव का आशीष पाकर।

एक विद्याहीन को सानन्द विद्यामृत पिलाया।
और मुझ-से दीन-जन को भी हृदय से है लगाया।
भूल सकता आप का उपकार आजीवन नहीं मैं।
शिष्य का गौरव न छोड़ूँगा रहूँ चाहे कहीं मैं।
जो दिया श्रीमान् ने, उससे उऋण होना कठिन है।
जो न करता गुरु समादर, चित्त उस नर का मलिन है।
वह अयश इस लोक में, परलोक में पाता अधोगति।
शिष्य जो गुरुद्रोह करता, नाश वह होता कुटिल-मति।"
शुक्र बोले—"कच, तुम्हारी सिद्ध विद्या हो गयी है।
देवयानी की दया से बिघ्न-बाधा खो गयी है।
सिद्धिदात्री वह तुम्हें जब चाहती है प्राणपण से;
तब विजय निश्चय तुम्हारी है, अभय जीवन-मरण से।
आज से तुम पुत्र-सम मेरे हुए, हे ब्रह्मचारी।
इस कुटी में ही रहो, जब तक सुमन, इच्छा तुम्हारी।

●

सर्ग ७

प्रणय-निवेदन

"आ रहे झोंके मलय के दूर-दक्षिण देश-चारी ।
कल्पना के कल्पतरु में गूँजते मधुवन-बिहारी ।
माधवी की वल्लरी में पुष्प के शत-गुच्छ आये ।
बेधने को मर्म केसर में कुसुम के शर सुहाये ।
जल रहे भूधर पलाशी-ज्वाल से छविपंख-धारी ।
आ रहे झोंके मलय के दूर-दक्षिण-देशचारी ।
हास की आकाशगंगा और सागर है गगन का ।
प्रेम की कादम्बिनी में मग्न है मोती मिलन का ।
बोलती है तारिका की सारिका अज्ञात सुर में ।
जा रही अभिसारिका कोई प्रणय के स्वप्न-पुर में ।
बज रहा आनन्द-नूपुर-छन्द आन्दोलित चरण का ।
हास की आकाशगंगा और सागर है गगन का ।
प्रेम-सरिता के पुलिन पर चाँदनी की नाव आयी ।
कोकिला ने पंचमी सुरतान में वंशी बजायी ।"
देवयानी ने पुकारा मुग्ध होकर—"ओ प्रवासी !
आज कैसी है तुम्हारे चन्द्र—आनन पर उदासी ?

स्वर्ग का आया स्मरण ? अमरावती मन में समायी ?
प्रेम-सरिता के पुलिन पर चाँदनी की नाव आयी।"

'आज वासन्ती निशा में पूर्ण चन्द्रोदय हुआ है।
ज्योति इतनी है कि मन को दिवस का विस्मय हुआ है।
रश्मियों के दूत करने लग गये कलरव विहंगम।
प्राण, खोलो दृग, निहारो स्नेह-सरिता-सिन्धु-संगम।
रजत-स्वर्ग-तरंगिनी से स्वर्ग-भू-परिचय हुआ है।
आज वासन्ती निशा में पूर्ण चन्द्रोदय हुआ है।
रूप की राका सुनहली हो गयी मधुऋतु-शिखा से।
बोलते बन्दी भ्रमर भ्रम सुमन की मादक गुहा से।
तोड़ दो रे प्रेम-पंछी, तोड़ दो दिग्भ्रान्त कारा।
क्यों किसी ने फिर क्षितिज के पार से मुझको पुकारा ?
काँपती हैं घाटियाँ, चिर काल से पाषाण प्यासे।
रूप की राका सुनहली हो गयी मधुऋतु-शिखा से।
ओ अमर सौन्दर्य—शिल्पी, ओ अनाहत सुर—विधाता !
छवि न राकाकाश अपनी तूलिका से आँक पाता।
विश्व-वीणा बज रही आश्चर्य-वाणी में चिरन्तन।
प्राण-धारा आज उन्मन, स्पर्श से गद्-गद् विकल मन।
चन्द्रमा है रोहिणी के साथ मधुरस-गन्धमाता।
ओ अमर सौन्दर्य—शिल्पी, ओ अनाहत सुर-विधाता।

बिच्छुरित हैं आज शत-शत-शत तरंगों में मनोहर
मानसर मेरे हृदय का मुग्ध पारावार बन कर।
राजती है जो रजत-प्रतिबिम्ब—प्रतिमा प्राणहारी
सिन्धु-सलिलाकाश में उद्दाम यौवन-ज्वार-कारी,
मैं भला कैसे उतारूँ रूप वह अनुरूप सुन्दर ?
बिच्छुरित है आज शत-शत-शत तरंगों में मनोहर।

"आज मेरी मालतीपर छा गया मधुमास मनहर।
खिल रहे हैं गुच्छ के प्रति—गुच्छ शत-शत पुष्प सुन्दर।
कर रहीं महमह दिशाएँ सुरभि से उन्मत्त होकर।
गूँजते आते त्रिभंगी रूप के शिल्पी भ्रमर-स्वर।
कंचनारुण तामरस से है लिखा छवि का सरोवर।
आज मेरी मालती पर छा गया मधुमास मनहर।
यह सुकोमल वल्लरी जो कामना-सी बढ़ गयी है।
वेणु-स्वर-मुग्धा भुजंगी-सी मदाहत चढ़ गयी है।
रूप से छितनार, सौ-सौ पुलकनों से हर्षिता-सी।
द्वार पर मेरे भवन के आज है रोमांचिता-सी।
स्वर्ण-ज्वालामय वसन्तानल-शिखा में कढ़ गयी है।
यह सुकोमल वल्लरी, जो कामना-सी बढ़ गयी है।
मैं कहाँ रक्खूँ अकिंचन यह अपरिमित रूप-सोना ?
जो नहीं विकसित, विपिन का एक भी ऐसा न कोना।

स्वर्ण-कण की हर्ष-वर्षा, धूल-धूसर है दिगन्बर।
भर गया हर मृगदृगी के लोचनों में काम-केसर।
आ रहा मोहर लुटाता आज कोई मधु-सलोना।
मैं कहाँ रक्खूँ अकिंचन यह अपरिमित रूप-सोना ?
हर गली, हर कुंज-वन में, हर सदन में रंग-रागी।
मन-मनोरथ राजपथ पर जा रहा सर्वस्व-त्यागी।
आ गयी है कोकिला जाने न क्यों अभिसार-वन में ?
लग गयी कोमल गुलाबी आग तन में और मन में।
रागिनी कोई प्रगल्भा कण्ठ में उन्मुक्त जागी।
हर गली, हर कुंज-वन में, हर सदन में रंग-रागी।
आज मेरी मालती की मंजरी का हार ले लो।
मधुकरों के घुँघरुओं से गूँजता हर ताल ले लो।
आज हर तृण में नवांकुर, हर नवांकुर, में सुपल्लव।
पल्लवों में नवल किसलय, किसलयों में रूप अभिनव।
रूप के हर बोल पर आनन्द का गुंजार ले लो।
आज मेरी मालती की मंजरी का हार ले लो।
आज तो जी में यही होता कि शशि के साथ चल दूँ।
थाम लूँ युगचक्र अद्भुत सृष्टि-गति-धारा बदल दूँ।
व्योम-गंगा-वीचि में नक्षत्र-इन्दीवर उछालूँ।
कण्ठ में नीहारिका का कुन्द-मुक्ता-हार डालूँ।
भग्न कर दूँ शृंखला को, शूल-फूलों को मसल दूँ।
आज तो जी में यही होता कि शशि के साथ चल दूँ।"

"देवयानी !" मुग्ध कच बोला—"गगन का शशि मनोहर।
पर मनोहर मर्त्य भी है, मृत्यु का संसार सुन्दर।
सोचता हूँ, अश्रु-विगलित कण्ठ से दोगी विदाई।
एक दिन हो जायगी तब कवि-कुमारी भी पराई।
यह मधुर आवास तज कर स्वर्ग कैसे जा सकूँगा ?
प्रीति का भुजपाश मोहक फिर कहाँ मैं पा सकूँगा।
विस्मरण कैसे करूँगा मैं तुम्हारे स्नेह का ऋण ?"
"हाय, जाओगे चले क्या कच ! कहो सचमुच किसी दिन ?"
देवयानी ने कहा—"विच्छिन्न कर सम्बन्ध सारा
लाँघ जाओगे कभी क्या स्नेह-सरिता का किनारा ?
ओह, तुम इतने निठुर, इतने कुलिश क्या हो सकोगे
मोम के ओ दीप, तुम पाषाण बन कैसे जलोगे ?
मीन-सी जल-हीन जीवित मैं भला कैसे रहूँगी ?
यदि न तुम जग में रहोगे, स्वर्ग में ही मैं चलूँगी।"

कच

नील गगन के पार न जाओ।
यौवन के सपनों के छल में
जीवन-बाजी हार न जाओ।
नील गगन के पार न जाओ।

देवयानी

अधरों की भाषा में हँस कर,
नयनों के मधुवन में बस कर,
ओ निष्ठुर परदेशी, मुझको
देकर अपना प्यार न जाओ।
नील गगन के पार न जाओ।

कच

परदेशी की प्रीति यही है।
जलधारा की रीति यही है।
बादल की छाया से चंचल
लगा प्रणय का तार न जाओ।
नील गगन के पार न जाओ।

देवयानी

मैं रो-रो कर विकल मरूँगी।
ज्वाला से शृंगार करूँगी।
ओ जीवन-नौका के नाविक,
छोड़ मुझे मँझधार न जाओ।
नील गगन के पार न जाओ।

सर्ग ८

विदा-अभिशाप

कच

आह, प्यारी जन्मभू कितनी मधुर, कितनी सुहानी।
नाम लेते ही हुए हैं प्राण शीतल, पुण्य वाणी।
याद आयी है मुझे फिर आज भूली-सी कहानी।
एक मूर्च्छित स्वप्न से जागा हुआ मैं, देवयानी।
एक मैं हूँ, आज जिसको है बुलाती जन्म-धरती।
एक तुम हो, कल्पना जिसकी गगन-वन में विचरती।

देवयानी

यों हलाहल-तिक्त बाणी-बाण से बेधो न अन्तर।
कच, जहाँ तुम हो, वहीं मैं हूँ, विचारो बन्धु, क्षण भर।
चाँदनी क्या चन्द्रमा को छोड़ जा सकती कहीं है?
रूप के ही साथ क्या प्रतिरूप भी चलता नहीं है?
क्या पृथक् दक्षिण-पवन से सुरभि का अस्तित्व होता?
चेतना से हीन होकर नर न क्या व्यक्तित्व खोता?

कच

सत्य है हे देवयानी, किन्तु मैं कितना विवश हूँ।
मर्म में पाषाण है, मरु-लोक-सा निर्जल-विरस हूँ।
इस अनाश्रित चिर-प्रवासी को दिया आश्रय न होता,
तो न जाने यह विहंगम किस विजन में प्राण खोता?
देवि, मेरे प्राण ये आजन्म आभारी रहेंगे।
धन्यवादों की भरी डाली तुम्हें अर्पित करेंगे।

देवयानी

मात्र केवल धन्यवादों की झड़ी बरसा रहे हो ?
क्या न कुछ भी और कच, मेरे लिये तुम पा रहे हो ?
फिर हृदय अपना टटोलो मर्म के अन्तर्जगत में।
कामना का कीट देखो तो न सोया है स्वगत में ?
वेदना कोई अछूती, वासना कोई अधूरी
नाचती है प्राण-वन में तो नहीं बन घन-मयूरी ?

कच

अब विदा दो, देवयानी, साधना परिपूर्ण मेरी।
देवि, सायंकाल को ज्यों लौटता दिन का अहेरी।
पूर्ण मंगल-कामना से अब विदा दो कवि-कुमारी।
स्वर्ग जाना चाहता है स्वर्ग-मन्दिर का पुजारी।
मर्त्य भूलेगा न फिर भी, यों जहाँ कमनीयता है।
प्रेम की देवी जहाँ तुम-सी, वहीं रमणीयता है।

देवयानी

हाय, क्यों इतने कृपण तुम आज बनते जा रहे हो ?
मन-सुमन पर घात पर प्रतिघात करते जा रहे हो।
दो विदा के शब्द केवल और कुछ भी तो न सम्बल।
क्या अवर्षित छिन्न बादल-से रहोगे आज निष्फल ?
एक भी अंकुर नहीं क्या स्नेह का अज्ञात उर में ?
एक भी क्या तार मानस-बीन का बजता न सुर में ?
क्या तुम्हारे पास देने के लिये कुछ भी नहीं है ?
स्वर्ग का वासी अकिंचन हाय, क्या होता कहीं है ?
क्या न नन्दन-वीथि में उन्मद-मदन मधुमास आता ?
क्या नहीं मधुमास पावन पारिजातों को खिलाता ?

पारिजातों के सुमन पर क्या न मधुकर गूँजते हैं ?
मधुकरों के गुंजनों से क्या न यौवन झूमते हैं ?
मैं उतारूँगी धरा पर स्वर्ग को, उत्सव मनाओ।
ओ हठीले स्वर्ग-कामी, छोड़कर मुझको न जाओ।

कच

रोम में श्रद्धा-पुलक, सद्भाव से अन्तर भरा है।
कच तुम्हारे द्वार पर पद-धूलि-वन्दन को खड़ा है।
मैं कृपा-करुणा-किरण का एक ही कण चाहता हूँ।
देवि, मत वरदान दो, आशीर्वचन ही चाहता हूँ।

देवयानी

और कुछ बोलो, अबोला आज तक जो कुछ रहा है।
आज कुछ वह भी कहो, जिसको नहीं अब तक कहा है।
और कुछ माँगो, जिसे देकर न कुछ भी शेष रहता।
प्राप्त कर जिसको न कोई भी मिलन-सन्देश कहता।
प्राण मेरे हैं विकल उद्गार सुनने के लिये वह।
जो बजे हृद्-वीन पर, झंकार सुनने के लिये वह।
बन्धु, बोलो, प्राण-बल्लभ कच, कहो, वह प्रीति-वाणी।
जो बने दो अंतरंगों के मिलन-पथ की कहानी।
जो रहा गोपन अभी तक मुक्त अभिनय-प्यार में भी।
स्वर्ग-सहचर, खोल दो वह ग्रन्थि अन्तिम बार में भी।
छन्द जो स्वच्छन्द होकर आज गाना चाहता है।
राग जो अनुराग बनकर मुस्कुराना चाहता है।
आज मत रोको उसे, उद्दाम बहने दो लहर को।
तोड़ दो बन्धन नियति का, फूटने दो प्रेम-स्वर को।

कच

है नहीं अकृतज्ञ यों, अविनीत इतना ब्रह्मचारी।
जो तुम्हारे प्रेम को कर दे सुविस्मृत कवि–कुमारी।
किन्तु, ऐसे प्रेम से कर्त्तव्य भी कोई बड़ा है।
कच तुम्हारे सामने निर्दोष है, निर्भय खड़ा है।
दण्ड में अपने हृदय से तुम इसे कर दो बहिष्कृत।
किन्तु, मत बांधो प्रणय के पाश से आनन्द-विस्तृत।

देवयानी

क्या इसी दिन के लिये मैंने तुम्हें जीवित किया था ?
दानवों की प्रतिक्रिया का घृणित विष भी पी लिया था ?
दृष्टि कुत्सित सृष्टि की मैंने छिपा अपने नयन में ?
लोक-लज्जा को जलांजलि दे तुम्हें रक्खा भवन में ?
चिर-अपरिचित को भवन-भर ही न, दे डाला भुवन भी।
प्रिय, प्रथम ऋतुराज में ही मिलन का सम्पूर्ण धन भी।
हाय, जो संचित किया था युग-युगान्तर से हृदय में,
दे दिया मैंने प्रवासी को सभी लीला-प्रणय में।

कच

तुम कहो ऐसा नहीं हे देवयानी, गुरु सुनेंगे,
तो कहेंगे क्या ? जरा में यह करुण सन्ताप लेंगे ?
मैं पिता के तुल्य जिनको मानता, गुरु ही न केवल।
मुख उन्हें कैसे दिखाऊँगा कलंकित पाप-कज्जल ?
क्या कहेगा हाय मुझको देखकर संसार सारा ?
देवयानी, प्रेम का प्रस्ताव यह अनुचित तुम्हारा।
मैं जिसे भगिनी समझता आ रहा हूँ पूजनीया,
आह, मैं कैसे बना लूँ अब उसे भार्या स्वकीया ?

कर उठेगा स्वर्ग हाहाकार मेरे इस पतन पर।
फेर लेगी मुख घृणा से नरक-ज्वाला भी भड़क कर।
दोष-दलदल में घसीटो यों नहीं हे कवि-कुमारी।
मांगता हूँ मैं अकिंचन आज अनुकम्पा तुम्हारी।
हो चुका सुर-कार्य चिर-सम्पन्न, विद्या-दान पाया।
है अवधि भी शेष, अब सुर-लोक से आह्वान आया।

देवयानी

हाय, तो क्या स्वप्न था ? वह कल्पना थी ? मात्र भ्रम था ?
हे प्रवंचक, मरुधरा में मृगतृषा का विकल श्रम था ?
इन्द्रधनुषी कामनाओं से रंगी क्रीड़ा-कथाएँ।
जागरण से खिन्न नयनों की प्रणय-बोझिल व्यथाएँ।
पूर्ण ज्योत्स्ना-शर्वरी-वन–वीथिका में आत्म-हारा
कौन कहता था विमोहित–"मैं तुम्हारा हूँ, तुम्हारा।"
नित्य जिसके कण्ठ को करती सुशोभित फूल-माला,
वह नहीं क्या देवयानी थी तुम्हारी मर्त्य-बाला ?
झूमते लोचन—भ्रमर किसके मदिर रस-रूप पीकर ?
शपथ से किसके उमड़ता था वदन पर हर्ष-सीकर ?
कौन रोमांचित अचानक स्पर्श से होता विकल था ?
हाय, वह क्या एक अभिनय मात्र था ? एकान्त छल था ?

कच

भाव ही है तो पुजारी का छिपा प्रतिमावरण में।
देखता है देवता को एक पूजा के सुमन में।
यदि यही अपराध मेरा, तो क्षमा कर दो, कुमारी।
प्रेम है आकाशगंगा, प्रेम तो है निर्विकारी।

देवयानी

यह नहीं होगा, नहीं यह हो सकेगा ओ अभागे !
आज पहली बार आहत नागिनी के प्राण जागे।
आज तो विष-दंश लेकर ही यहाँ से जा सकोगे।
आज तो तुम सिंहनी का भीम-भीषण कोप लोगे।
मैं धरा की वासिनी हूँ और मेरा प्रेम मृण्मय।
मैं नहीं स्वर्गीयता का जानती परिणाम-परिचय।
मानती मैं, प्रेम भौतिक है, हृदय की वासना है।
यह नहीं कोई अलौकिक कल्पना, निष्कामना है।
देह, मन, आत्मा, किसी भी तत्व से सम्बन्ध होगा।
पर, नहीं यह पुष्प पावन प्रेम का निर्गन्ध होगा।
आज मैं समझी कि कितनी चन्द्रमा में तीक्ष्ण ज्वाला।
कागजी होती प्रदर्शन हेतु ही मन्दार-माला।
हो गया अब ज्ञात, अमरों का हृदय पाषाण का है।
प्रेम में कर्त्तव्य का अभिमान तो निर्वाण का है।
जिस धरा ने स्वर्ग के अभिजात को अपना लिया है,
स्वर्ग ने अब उस धरा के प्रेम को ठुकरा दिया है।
आज उस अपमान का मैं मानवी प्रतिशोध लूँगी।
देवता को आज पावन मृत्तिका का बोध दूँगी।

कच

कच, सुनो, यह देवयानी यों तुम्हें अभिशाप देगी।
ओ मृषा-भाषी, विफल कच संजीविनी विद्या रहेगी।
देवि, बोलो, हो गया अब तो हृदय शीतल तुम्हारा ?
क्या बर्हिगत हो गया विष-दंश से उत्ताप सारा ?
तो, सुखी कल्याणि ! हो, अब स्वस्थ हो, तुम शान्ति पाओ।
शाप अंगीकृत किया कच ने तुम्हारा, मुस्कुराओ।

शाप के अनुव्याज से वरदान ही तुमने दिया है।
सिद्धि का अभिमान मेरा देवि, तुमने हर लिया है।
क्या हुआ यदि, मैं अकेला सिद्धि से विरहित रहूँगा।
किन्तु अपने देश को संजीविनी का ज्ञान दूँगा।
अन्य होंगे सिद्ध सारे और संजीवित करेंगे!
पूर्ण विद्या प्राप्त कर मुझसे मरण को जीत लेंगे।
किन्तु, ऐसा क्रोध ब्राह्मण को कभी शोभा न देता।
इसलिये कोई वरेगा अब तुम्हें क्षत्रिय-विजेता।

सर्ग ६

शान्ति-विजय

स्वर्ग में संजीविनी विद्या पधारी।
नृत्य करने लग गये नन्दन-बिहारी।
हर्ष से उत्फुल्ल हो उत्सव मनाया।
और कच ने शंख गृह-गृह में बजाया—
चित्त में हो कृपा, निष्ठुरता समर में।
जाग मेरे देश, ले करवाल कर में।
क्या कहा तू ने ? कृपा-पावन-प्रहर में।
है असम्भव तो न निष्ठुरता समर में ?
क्यों कृपा निष्ठुर हृदय कोई करेगा ?
क्या कृपा-अभिभूत नर निष्ठुर बनेगा ?
किस तरह दो लक्ष्य होंगे एक शर में ?
चित्त में हो कृपा, निष्ठुरता समर में।
दो विरोधी तत्व कैसे मिल सकेंगे ?
अग्नितरु पर फूल कैसे खिल सकेंगे ?
किस तरह करवाल-कर करुणा करेगा ?
किस तरह पाषाण का अन्तर गलेगा ?
सिंह-मृग कैसे रहेंगे एक घर में ?
चित्त में हो कृपा, निष्ठुरता समर में ?
चित्त में होगी कृपा जो शत्रु के प्रति,
तो भुजा में किस तरह होगी समर गति ?

द्रवित होकर कौन देगा युद्ध-अनुमति ?
चेतना तो एक ही है और दो मति ?
क्या न अन्तर्द्वन्द्व लेगा जन्म नर में ?
चित्त में हो कृपा, निष्ठुरता-समर में ।

प्रश्न तेरा है युगोचित, सौम्य सुन्दर ।
अब तनिक सुन ले पुरोधा का समुत्तर ।
देश तू पावन, सनातन मान्यता है ।
और तेरी अमर संस्कृति-सभ्यता है ।
तू अकेला आत्मवादी विश्व-भर में ।
जाग मेरे देश, ले करवाल कर में ।
शत्रु बन कर द्वार पर जो भी खड़े हैं,
वे पुरातन बन्धु, हठ पर जो अड़े हैं ।
एक जो अज्ञान का पर्दा पड़ा है ।
भिन्नता की भावना से वह भरा है ।
तू कृपा का अमृत बन संघर्ष-ज्वर में ।
जाग मेरे देश, ले करवाल कर में ।
लोक-हित की कामना से युद्ध तेरा ।
युद्ध से अन्तःकरण हो शुद्ध तेरा ।
शत्रु के कल्याण की सद्भावना हो ।
शान्ति हो उद्देश्य, मंगल प्रेरणा हो ।
व्यर्थ मत शोणित लगा ले तू अधर में ।
जाग मेरे देश, ले करवाल कर में ।

धर्म-स्थापन के लिये करवाल तेरी।
देवताओं के लिये जयमाल तेरी।
मुक्त आत्मा को कृपा तेरी करेगी।
और पशुता के उपद्रव को हरेगी।
अभ्युदय हो नाश की लीला-लहर में।
जाग मेरे देश, ले करवाल कर में।
तू न केवल शस्त्र-धारी, शास्त्र-धर भी।
तू अमरता ही न केवल, दिव्य स्वर भी।
तू न केवल बाहु-बल, विज्ञान भी है।
सृष्टि तू, कल्पान्त का आह्वान भी है।
शान्ति लेती है शरण तेरे नगर में।
जाग मेरे देश, ले करवाल कर में।
विश्व में पशुता भरी जब तक रहेगी,
हाथ में करवाल भी तब तक रहेगी।
किन्तु, इसके साथ यह मत भूल जाना।
एक हम हैं सत्य, भ्रम हैं भेद नाना।
हो निखिल स्वाधीनता उद्घोष स्वर में।
जाग मेरे देश, ले करवाल कर में।
यह कृपा होगी नहीं दुर्बल हृदय की।
यह कृपा होती किसी दैवी विजय की।
शक्ति जो अपराजिता दिग्विजयिनी है,
वह कृपा-करवाल युगपद-धारिणी है।
तू वही है शक्ति संसृति की नजर में।
जाग मेरे देश, ले करवाल कर में।
चेतना की एक स्थिति करवाल कहती।
दूसरी स्थिति में कृपा की शक्ति रहती।

ये सृजन-संहार के दोनों चरण हैं।
सृष्टि-रचनाकार के ये उपकरण हैं।
ज्वाल, जल दोनों छिपे भू के उदर में।
जाग मेरे देश, ले करवाल कर में।
जागरण-उत्साह जन-जन में समाया।
चिर विजय का भाव नव सर्वत्र छाया।
बह चली कल्लोल करती प्राण-धारा।
एक जीवन-शक्ति ने नूतन पुकारा।
फट गये आलस्य के जन्मान्ध बादल !
ले उठा अँगड़ाइयां नूतन मनोबल।
भीरुता-जड़ता गयी, उद्योग आया।
शौर्य, श्रम, सहयोग ने मस्तक उठाया।
संगठित हो कर बढ़े संकल्प शत-शत।
व्योम में उन्नत उठा ध्वज-दण्ड अक्षत।
देवताओं ने दनुज पर विजय पायी।
और फिर सुरलोक में सुख-शांति छायी।

*

परिशिष्ट

कवि-परिचय

कविवर श्री आरसी प्रसाद सिंह का जन्म १९ अगस्त १९११ ई० को बिहार राज्यान्तर्गत समस्तीपुर जिले के एरौत नामक ग्राम में हुआ। यह कुछ वर्षों तक कोशी कालेज खगड़िया में हिन्दी के प्राध्यापक रहे। फिर आकाशवाणी में हिन्दी कार्यक्रमों का संचालन किया। अब स्वतन्त्र रूप से साहित्य-सेवा कर रहे हैं। इनकी प्रमुख विधा कविता है। कहानियाँ भी इन्होंने लिखी हैं। एकांकी नाटक और रेडियो-रूपक भी इन्होंने लिखे हैं। निबन्ध और नाट्य-गीतों की रचना भी की है। बाल-साहित्य के इने-गिने कवियों में इनकी गणना होती है। कुल मिलाकर अब तक इनकी ३३ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। कविताओं में कलापी, नन्ददास, प्रेम-गीत, द्वन्द्व समास, संजीविनी और उदय; कहानियों में पंच-पल्लव, खोटा सिक्का और कालरात्रि एवं बाल-साहित्य में सोने का झरना, हीरा मोती तथा कलम और बन्दूक शीर्षक पुस्तकें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

संजीविनी-कथासार

"संजीविनी" में एक महत्वपूर्ण उद्देश्य है, सन्देश है और उसे एक पौराणिक कथानक के माध्यम से उपस्थित किया गया है।

पहलासर्ग—आदिकाल से देवता और दानव परस्पर विरोध रखते आये हैं। एक समय दानवों ने स्वर्ग पर अपनी सत्ता स्थापित करने के लिए आक्रमण किया। अहंकारी और दुष्ट प्रवृत्ति के दानवगण जब स्वर्ग के द्वार पर पहुँचे, तब देवतागण अपनी रक्षा के लिए समर-भूमि में कूद पड़े। इन्द्र आदि के ओजस्वी वचनों से प्रेरित होकर देवतागण पूरी शक्ति से दानवों का मुकाबला करते हैं। भीषण युद्ध की अग्नि चतुर्दिक फैल जाती है। देवताओं की शक्ति और युद्ध से

दानवों के धैर्य-रूपी वृक्ष उखड़ जाते हैं। उनके अनगिनत योद्धा समर-भूमि में मौत के घाट उतरते हैं। अन्ततोगत्वा दानवगण पराजित होते हैं और देवताओं के गले में विजयश्री माला पहना देती है।

दूसरा सर्ग—दानवों के गुरु शुक्राचार्य के पास 'संजीवनी विद्या' है। वह अपनी उस विद्या से दानवों को पुनरुज्जीवित कर देते हैं। 'संजीविनी' विद्या देवताओं को प्राप्त नहीं थी। ऐसी स्थिति में देवताओं के सम्मुख एक जटिल समस्या उठ खड़ी होती है कि वे दानवों को कैसे समाप्त करें? गुरु बृहस्पति इस चिन्ता से मुक्ति का एक ही मार्ग 'संजीविनी-विद्या' की प्राप्ति बताते हैं। जब तक देवताओं के पास वह विद्या नहीं होती, वे दानवों का दलन करने में सक्षम सिद्ध नहीं हो सकते। ऐसी स्थिति में देवताओं के समक्ष विकट समस्या उठ खड़ी होती है कि कैसे शुक्राचार्य से उक्त विद्या को प्राप्त किया जाए। दानवों की नगरी में जाकर शुक्राचार्य से कौन इस विद्या को हासिल करे? यह प्रश्न देवताओं को विचलित कर देता है क्योंकि इस कार्य में भयानक खतरे की सम्भावना थी। आचार्य बृहस्पति का एकलौता पुत्र कच यह कठिन कार्य करने के लिए स्वेच्छा से तैयार होकर अपने पिता से असुर-लोक (जहाँ शुक्राचार्य वास करते थे) जाने देने की अनुमति माँगता है। अपने पिता से आशीर्वाद और अनुमति प्राप्त कर कच शुक्रचार्य से 'संजीविनी विद्या' सीखने के लिए साहस और विश्वास के साथ प्रस्थान करता है।

तीसरा सर्ग—कच संजीविनी विद्या प्राप्त करने के हेतु दानवों की नगरी में पहुँचता है। फिर गुरु शुक्राचार्य के आश्रम की जानकारी प्राप्त कर उनके आश्रम में उपस्थित होता है। वहाँ देवयानी (शुक्राचार्य की पुत्री) से उसका परिचय होता है। तत्पश्चात् उसे शुक्राचार्य के दर्शन होते हैं। शुक्राचार्य उक्त विद्या सीखने के लिए हजार वर्षों तक ब्रह्मचर्य व्रत लेने की अनिवार्यता बताते हैं। कच अपने पर विश्वास रख इसे पालन करने की प्रतिज्ञा करता है। शुक्राचार्य उसे सहर्ष शिष्य रूप में स्वीकार कर अपने आश्रम में स्थान दे देते हैं!

चौथा सर्ग—इसमें कच की गुरुभक्ति तथा देवयानी के साथ पारस्परिक स्नेह की वृद्धि का वर्णन है। कच इस तथ्य से परिचित हो जाता है कि शुक्राचार्य अपनी पुत्री को प्राणों से अधिक स्नेह करते हैं तथा उसकी इच्छा को ठुकरा नहीं सकते। अतः वह देवयानी को तुष्ट करने का प्रयास करता है। दानवों को कच के उद्देश्य की जानकारी हो जाती है। वे उसे एक दिन एकान्त में पाकर मार डालते हैं। रात्रि होने पर भी कच के न लौटने पर देवयानी विकल हो उठती है। ऐसी परिस्थति में गुरु शुक्राचार्य अपनी संजीविनी विद्या से कच को पुनर्जीवित करते हैं। कच पुनर्जीवित पाकर अपने संकल्प में जुट जाता है।

पाँचवां सर्ग—गरु शुक्राचार्य के आश्रम में कच के सौ वर्ष व्यतीत हो जाते हैं। एक दिन कच देवयानी के लिए मधुवन से पुष्प लाने गया। मार्ग में दानवों से भेट हो गई। उन्होंने कच को मारकर नदी में प्रवाहित कर दिया। देर होने पर देवयानी चिन्तातुर हो गई। पुनः शुक्राचार्य ने कच को अपनी संजीविनी विद्या से जीवित कर दिया। देवयानी ने कच को आश्रम से बाहर न जाने की सलाह दी। उसे यह भी कहा कि यह स्थान सुरक्षित है। दानवों का भय यहाँ नहीं है।

एक दिन राजभवन में उत्सव होने पर देवयानी के साथ शुक्राचार्य आमन्त्रित होकर वहाँ गए। कच को गोशाला की ओर गाय के आर्त्त-स्वर तथा किसी शेर की गर्जना सुनाई पड़ी। उसने प्राणों से अधिक गौ की रक्षा करना अपना धर्म समझा। वह उक्त स्थान की ओर गया। वहाँ गौ और सिंह के बदले दानवों का दल मिला। वह दानवों की माया थी। दानवों ने कच को जलाकर क्षार कर दिया और उस भस्म को किसी पदार्थ में मिश्रण कर धोखे से शुक्राचार्य को खिला दिया। देवयानी और शुक्राचार्य जब उत्सव से वापस लौटे, तब कच को नहीं पाया। पुकारने पर भी उसका स्वर सुनाई नहीं पड़ा। देव-

यानी व्यथा से मूर्च्छित हो गई। होश आने पर शुक्राचार्य नाना प्रकार से उसे समझाने तथा जीवन की क्षणभंगुरता से अवगत कराने का उपक्रम करते रहे। उन्होंने यह भी कहा—"ईश्वर के अतिरिक्त संसार में कोई भी व्यक्ति मृत्यु से बच नहीं सकता। फिर कच के कारण दानवगण मेरा विरोध भी करते हैं।" परन्तु देवयानी ने कच के जीवन दान का हठ नहीं छोड़ा। अन्ततोगत्वा, विवश होकर गुरु शुक्राचार्य ध्यान द्वारा कच की खोज करते हैं।

छठाँ-सर्ग—ध्यान में शुक्राचार्य को कच की कथा ज्ञात होती है तथा ऐसी परिस्थिति में कच की पुनर्जीवित कराने की गम्भीर समस्या उठा खड़ी होती है। कच के जीवित होने से शुक्राचार्य की मृत्यु हो जाती है। क्योंकि वह उनके उदर में पड़ा था। शुक्राचार्य देवयानी से समस्या बताते हैं। देवयानी स्पष्ट कहती है कि न मैं आपको खोना चाहती हूँ, न कच को, क्योंकि न आपके बिना मैं जीवित रह सकती हूँ, न कच के बिना। ऐसी स्थिति में शुक्राचार्य को एक ही मार्ग सूझता है। वह अपने उदर में पड़े कच को संजीविनी विद्या सिखा देते हैं और तत्पश्चात् उसे उदर चीरकर बाहर निकलने की राय देते हैं। कच उनका उदर विदीर्णकर निकल आता और नया जीवन पाता है। शुक्राचार्य की मृत्यु हो जाती है। कच संजीविनी विद्या से शुक्राचार्य को जीवित कर देता है। इस प्रयत्न से कच, देवयानी और शुक्राचार्य तीनों को जीवन-दान मिलता है।

सातवाँ-सर्ग—इस सर्ग में देवयानी कच से प्रणय-निवेदन करती है। कच को अपने स्वर्ग में लौटने की इच्छा जाग्रत होती है। वह देवयानी को समझाने का प्रयास करता है तथा अपने लौटने की बात प्रकट करता है। देवयानी अपने प्रेम को जगाती हुई उसे लौटने की इच्छा का परित्याग करने का आग्रह करता है। वह यह भी स्पष्ट कहती है—"अगर तुम स्वर्ग ही जाना चाहोगे, तो मैं तुम्हारे साथ जाऊँगी।" कच उसे यौवन का आवेश बताते हुए ऐसा कर्म करने से रोकता हैं। देवयानी तरह-तरह से अनुनय-विनय कर उसे अपने प्रेम में बाँध लेना चाहती है। कच पर उसका असर नहीं पड़ता। वह उसे 'परदेशी की

प्रीति यही है।' कहकर सान्त्वना देना चाहता है। परन्तु देवयानी प्रेम में सुधबुध खो चुकी थी। उसपर उसके उपदेश का कोई अनुकूल प्रभाव नहीं पड़ता है।

आठवाँ-सर्ग—कच अपने स्वदेश लौटने की तैयारी करता है। देवयानी पुनः अपने उपकारों को जताती हुई कच से अपने लिए आश्रय चाहती है, प्रणय की भीख माँगती है। कच उसके उपकारों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करके भी अपने स्वर्ग लौटने की दृढ़ इच्छा को व्यक्त करता है और उससे आशीर्वाद माँगता है। वह यह भी जना देता है कि देवयानी को वह प्रेयसी नहीं, बहन की तरह मानता रहा है। देवयानी का प्रणय-निवेदन स्वीकार करने पर वह गुरु शुक्राचार्य के सम्मुख कैसे जा सकेगा, जिन्हें वह पिता की तरह मानता रहा है।

देवयानी का अन्तःकरण छलनी हो उठता है। उसके अन्दर प्रति-शोध की अग्नि भभक उठती है। वह कच को शाप देती है कि उसकी संजीविनी विद्या प्रभावहीन हो जायगी। भौतिक प्रेम करनेवाली मृत्युलोक की देवयानी का आवेश में शाप देना स्वाभाविक था।

कच शांत भाव से देवयानी को कहता है कि तुम्हारा यह शाप मेरे लिए वरदान है, क्योंकि इस विद्या को सीख लेने पर मेरे अन्दर अहंकार आ गया था, जो अब समाप्त हो गया। मैं यदि संजीविनी विद्या का स्वयं सफल उपयोग नहीं कर सकूँगा, तो दूसरे को सिखाऊँगा, जो मरण पर विजय प्राप्त कर सकेगें। कच यह भी कहता है कि ब्राह्मण के लिए इतना क्रोध शोभनीय नहीं होता। इसलिए तुम्हारा विवाह अब किसी क्षत्रिय से ही होगा।

नवाँ-सर्ग—संजीविनी लेकर कच स्वर्ग पहुँचा। देवता प्रसन्नता से भर उठे। कच ने संजीविनी विद्या के रहस्य को बताया। उसने देवताओं का उद्‌बोधन करते हुए घर-घर शंख फूँका। देवताओं ने दानवों को पराजित किया। स्वर्ग में सुख-शान्ति फैल गई।

'संजीविनी' शीर्षक की सार्थकता

'संजीविनी' खण्ड काव्य में मुख्य रूप से 'संजीविनी' विद्या प्राप्ति की कथा है। देव और असुर के संग्राम में असुरों की सुदृढ़ स्थिति देख देवताओं के गुरु वृहस्पति संजीविनी विद्या को स्वर्ग में लाये जाने की आवश्यकता पर बल डालते हैं। वह स्पष्ट कहते हैं—

दानव-गुरु आचार्य शुक्र विज्ञान-ज्ञान पारंगत हैं।
संजीविनी सिद्ध है विद्या, कवि हैं, कुशल, कला-रत हैं।
इस विद्या के शुभ प्रभाव से मृत जीवित हो जाते हैं।
इसी सिद्धि से दिति-पुत्रों को शुक्राचार्य जिलाते हैं।
इस प्रकार अरि-दल जी जाते मरकर भी समरांगन में।

अतः वैसी परिस्थिति में उक्त विद्या का स्वर्ग में लाया जाना आवश्यक ठहराते हैं। कच इसी विद्या को स्वर्ग में लाने के लिये शुक्राचार्य के पास जाता है। अपनी निष्ठा और योग्यता से, शुक्राचार्य से कृपा पूर्वक उक्त विद्या को प्राप्त करता है और उसे लेकर स्वर्ग पहुँचता है। देवताओं की जीत होती है। दानवों की कमर टूट जाती है।

इस प्रकार संजीविनी विद्या की प्राप्ति की घटना का इसमें मुख्य रूपेण वर्णन है। इस आधार पर इस कृति का नामकरण सार्थक माना जायगा।

इसमें कवि ने एक और महत्वपूर्ण लक्ष्य रक्खा है। संजीविनी विद्या के गूढ़ अर्थों की वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की है। कवि के मतानुसार वह कर्मठता और उत्साह में वास करती है, अगति-शीलता और पाप में नहीं। स्फूर्ति, प्रेम और पौरुष के दिव्य चामत्कारिक वरदान से उक्त विद्या को उपलब्ध किया जा सकता है। शुक्राचार्य उसमें क्रान्ति और क्रियाशीलता का लक्षण बताते हैं। कर्त्तव्य और उत्साह से उक्त विद्या की उपलब्धि बताते हुए वह कहते हैं—

किन्तु इस संजीविनी में शक्ति-स्फूर्जित चेतना है।
है नहीं अमरत्व, केवल क्रांति की अभिव्यंजना है।
है सुधा दक्षिण-पवन, संजीविनी आँधी अनल की।
सिन्धु की मद-गर्जना, उन्मादिनी झंझा गरल की।

कच उस विद्या की सिद्धि कर स्वर्ग लौटता है तब वह देवताओं से

उसके रहस्यों को प्रकट करता हुआ कर्त्तव्य, श्रम और वीरता के लिए शंख-नाद करता है। स्वर्ग में संजीविनी विद्या के पधारने से देवताओं में नई शक्ति और चेतना उत्पन्न हो जाती है। वे दुष्ट दस्युओं एवं दानवों को पराजित कर स्वर्ग और स्वतंत्रता की रक्षा करते हैं। इस दृष्टि से भी देखा जाए, तो इस कृति का शीर्षक सार्थक प्रतीत होता है।

इसके अतिरिक्त, इसका शीर्षक छोटा, अर्थपूर्ण और आकर्षक है। जब तक पाठक इस कृति को आद्योपान्त न पढ़ लें, तबतक वह कथा के मोड़ से अवगत नहीं हो सकता, मूल कथा को नहीं समझ सकता। ऐसी स्थिति में यह नामकरण सार्थक, उपयुक्त और सफल माना जायगा।

कच का चरित्र

'संजीविनी' का नायक कच कवि के आदर्श का साकार रूप है। उसके माध्यम से कवि ने स्वप्न को साकार किया है।

भारतीय आचार्यों ने नायक में निम्नलिखित गुणों का होना आवश्यक ठहराया है—

नेता विनीती मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः।
रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढ़वंशः स्थिरो युवा॥
बुद्ध — युत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामानसमन्वितः।
शूरो दृढ़श्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः॥

कच मात्र उच्चकुल का ही नहीं, ऊँचे विचार का तरुण है। देवताओं के गुरु बृहस्पति का वह सुयोग्य पुत्र है। उसमें राष्ट्रीयता की भावना कूट-कूट कर भरी हुई है। वह लोकहित एवं राष्ट्र की सुरक्षा के हित प्राणों का मोह त्याग कर 'संजीविनी' विद्या को स्वर्ग में लाने के लिए दैत्यों के गुरु शुक्राचार्य का शिष्यत्व ग्रहण करता है, उनकी सेवा-भक्ति करता है। और अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए दानवों का अनेक प्रकार से शिकार होता है। दानव उसे जला देते हैं, मार डालते हैं। परन्तु कच उससे किंचित मात्र भी भयभीत नहीं होता, प्रत्युत पूरी निष्ठा से अपने लक्ष्य की सिद्धि में तत्पर रहता है। और यह सब वह

मात्र राष्ट्रीयता के पुनीत विचार से ओत-प्रोत होकर ही करता है। वह तो देवताओं से भरे स्वर्ग में अपने पिता से कहता है—

जन्मभूमि के लिए स्वर्ग-सुख, जीवन-दान करूँगा मैं।
सुर-सेवा के कारण अर्पण, अपने प्राण करूँगा मैं।

कच में स्वदेश-प्रेम की पुनीत गंगा सदैव लहराती है। उसके लिए 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' है। इसलिए जब वह 'संजीविनी' विद्या सीख लेता है, तब अपने स्वदेश की याद में विकल हो उठता है और देवयानी के प्रणय-निवेदन को ठुकराकर स्वदेश लौटने के संकल्प पर अटल रहता है। आठवें सर्ग में उसकी इसी भावना की अभिव्यक्ति निम्न पंक्तियों में हुई है—

आह, प्यारी जन्मभू कितनी मधुर, कितनी सुहानी।
नाम लेते ही हुए हैं प्राण शीतल, पुण्यवाणी।

कच की भावना की तुलना माखनलाल चतुर्वेदी की 'पुष्प की अभिलाषा' शीर्षक कविता से कर सकते हैं, जिसमें स्वदेश-प्रेम की सुगन्ध से आपूरित पुष्प कुछ इसी प्रकार की कामना करता है।

अपने स्वदेश-प्रेम के कारण ही कच शुक्राचार्य के आश्रम में विद्या-प्राप्ति के पश्चात् नहीं ठहरता और देवयानी द्वारा शापित होता है। कच सच्चे देश-प्रेमी की तरह उस शाप को वरदान समझ कर स्वीकार कर लेता है, परन्तु स्वर्ग वापस होता है।

कच में जहाँ त्याग और तपस्या की शक्ति है, वहाँ वीरता भी है। वह वीर युवक की तरह ही स्वर्ग लौटने पर घर-घर शंखनाद करता है, देवताओं का उद्बोधन करता है। किस प्रकार स्वतन्त्रता की रक्षा हो सके, इस पर प्रकाश डालते हुए वह ओजस्वी स्वर में कहता है—

हो निखिल स्वाधीनता उद्घोष स्वर में।
जाग मेरे देश ले करवाल कर में।
शक्ति जो अपराजित दिग्विजयिनी है।
वह कृपा-करवाल युगपद-धारिणी है।

उसी की प्रेरणा से स्वर्गवासी जागते हैं और दानवों का दमन कर विजयी होते हैं।

कच में लगन और अनुशासन भी प्रचुर है। वह जिस लक्ष्य को लेकर शुक्राचार्य के आश्रम में पहुँचता है, उसे पूरा करके ही लौटता है, भले ही उसके लिए उसे घोर तपस्या करनी पड़ती है, हजार वर्षों तक ब्रह्मचर्य धारण कर अपने स्वदेश से दूर दानवों के समीप रहना पड़ता है। अगर उसमें ऐसी निष्ठा और लगनशीलता नहीं होती, तो वह कदापि 'संजीविनी' विद्या सीख पाने में समर्थ नहीं होता। जिस आत्मविश्वास से वह देवताओं के बीच कहता है—

संजीविनी यहाँ लाऊँगा, मैं लाकर दिखलाऊँगा।
स्वयं सीखकर मैं आऊँगा, औरों को सिखलाऊँगा।

उसे वह पूरा करता है। वह 'संजीविनी' विद्या प्राप्त कर ही देव-लोक लौटता है।

कच के चरित्र में सौम्यता और गुरु-भक्ति के तत्व भी हैं। उसमें कभी भी उद्दण्डता नहीं दीखती। मन, कर्म और वचन से वह अपने गुरु शुक्राचार्य की सेवा करता है, उनके आदेशों का पालन करता है। भारतीय संस्कृति में एक शिष्य के जितने भी उज्ज्वल गुणों की कल्पना की जाती है, वे सभी उसमें प्राप्य है। वह गुरु की प्रसन्नता के लिए ही, देवयानी की भी सेवा और आदेशों का सहर्ष पालन करता है। यही कारण था कि शुक्राचार्य उसे पुत्रवत् मानते, दानवों द्वारा विरोध किये जाने पर भी उसे अपने आश्रम में रखते और बार-बार मरने पर भी उसे संजीविनी विद्या से जीवित कर देते थे। अन्त में उन्होंने 'संजीविनी' विद्या का दान भी कच को दे दिया।

निश्चय ही कच अनेकानेक गुणों की खान है। वह सच्चे अर्थ में गुणी पिता का शीलवान् गुणी पुत्र है। इसके चित्रण में कवि को पर्याप्त सफलता मिली है।

देवयानी का चरित्र

देवयानी दानवों के गुरु शुक्राचार्य की एकलौती पुत्री है, जिस पर यौवन का उन्माद है, प्रेम और सौन्दर्य की मादकता है। युवती

देवयानी के अंग-अंग में आकर्षण की चन्द्रिका विकीर्ण है, तभी तो प्रथम दर्शन में कच आश्चर्यान्वित होकर सोचता है—

किन्नरी है ? अप्सरी है ? या दनुज-नर-सुन्दरी है ?

देवयानी में अद्वितीय रूप था, तभी कच जैसे ब्रह्मचारी, सात्विक युवा के हृदय में ऐसा सघन आकर्षण उत्पन्न हुआ। देवयानी के रूप का वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है—

सन्धि-वेला में मनोहर देह-लतिका खिल रही है।
बाल-यमुना-धार से तारुण्य-गंगा मिल रही है।

देवयानी में जहाँ सौन्दर्य का अक्षय भंडार था, वहाँ उसके जीवन में प्रेम की वासन्ती हवा भी चल रही थी। प्रणय के देवता की वह अनन्य उपासिका थी। वह युवा कच से प्रेम करने लगी। उसके समक्ष कच तथा प्रणय के अतिरिक्त और कुछ नहीं था। देवयानी की तुलना डा० रामकुमार वर्मा के नाटक 'दीपदान' से कर सकते हैं। ये सभी प्रेम की आँधी में बहने वाली पात्रायें हैं, जो कर्त्तव्य एवं संयम से दूर हटकर मात्र प्यार की मदिरा पान कर मदहोश रहने में ही जीवन का सर्वस्व मानती हैं। 'संजीविनी' के चतुर्थ सर्ग में देवयानी का यही रूप चित्रित हुआ है। कवि की निम्न पंक्तियाँ देखें—

रूपसी आचार्य-कन्या नव-किशोरी, चिर कुमारी।
और कच सुविकच सुमन-सौन्दर्य सौरभ मत्तकारी।

कच को पाकर देवयानी प्रेम की लहरों में निस्संकोच बहती है। वह अपना हृदय, अपना सर्वस्व कच को समर्पित कर देती है। कच के बिना वह एक पल भी जीवित नहीं रह सकती। देवयानी के इसी प्रेम के कारण शुक्राचार्य कच को अनेक बार अपनी 'संजीविनी' विद्या से जीवन-दान देते हैं। सही अर्थ में कच का जीवन देवयानी के प्रेम का वरदान बनकर उपस्थित हुआ है।

परन्तु जब कच संजीविनी विद्या प्राप्त कर अकेले स्वर्ग लौटने की बात देवयानी के समक्ष प्रकट करता है, तब वह असंख्य वेदनाओं के बिच्छुओं

से दंशित होकर तड़प उठती है। कच के प्रति अनन्य प्रेम वाली देवयानी उसके बिना जीवित भी कैसे रह सकती? इसीलिए वह कातर होकर कच से निवेदन करती—

नील गगन के पार न जाओ।
ओ जीवन-नौका के नाविक,

छोड़ मुझे मँझधार न जाओ।

नील गगन के पार न जाओ।

परन्तु कच के मन में स्वदेश के प्रति अगाध प्रेम था। देवयानी को वह प्रेम से अधिक कर्त्तव्य का महत्त्व समझाकर लौटने का अपना संकल्प दोहराता है। कच उसे अपने साथ स्वर्ग ले जाने में भी असमर्थता प्रकट करता है, और जब उसके उपकार के बदले कृतज्ञता प्रकट करता है, तब देवयानी के अन्दर प्रतिहिंसा के विषधर फुफकार उठते हैं। सामान्यतः नारी-समाज अपनी और अपने प्रेम की उपेक्षा देखकर प्रतिशोध की ज्वाला से भर उठता है। इतिहास इसका साक्षी है। सम्राट अशोक की पत्नी तिष्यरक्षिता ने कुणाल की आखें लेकर ही अपनी प्रतिहिंसा तृप्त की और उर्वशी ने अर्जुन को शाप देकर। यह नारी-सुलभ दुर्बलता देवयानी में भी थी। वह प्रेम की पवित्र भावना भूल गई और कच को कठोर शाप दिया, जिससे कच की सारी तपस्या नष्ट हो गई—

कच सुनो, यह देवयानी यों तुम्हें अभिशाप देगी।
ओ मृषा-भाषी विफल संजीवनी विद्या रहेगी।

देवयानी स्पष्टतः प्रेम को हृदय की वासना मानती है और वासना की तृप्ति नहीं होने पर नागिन की तरह फुफकार उठती है। अपने उपकारों के बदले प्रणय-भीख नहीं पाने पर विद्रोहिणी बन जाती है।

'संजीविनी' की देवयानी की तुलना उर्वशी से कर सकते हैं। उर्वशी ने अपने प्रणय की उपेक्षा पाकर पृथ्वी के वासी अर्जुन को शाप दिया था। और देवयानी ने स्वर्ग के वासी को शाप से दग्ध किया।

देवयानी का चरित्र प्रस्तुत कृति में व्याप्त रूप से प्रकट हुआ है। उसके अंकन में कवि को पूरी सफलता मिली है।

शुक्राचार्य का चरित्र

शुक्राचार्य पौराणिक पात्र हैं। कविवर आरसी के शब्दों में मात्र दानवों के गुरु ही नहीं, कवि थे—"भारतीय पुराण-कथाओं में शुक्राचार्य एक ऐसे विलक्षण प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तित्व के रूप में प्रकाशित दिखाई पड़ते हैं, जिनसे बढ़कर तो क्या, समान स्तर का भी कोई अन्य नक्षत्र दृष्टिगोचर नहीं होता। वह एक साथ कवि और काव्य दोनों हैं। काव्य इसलिए हैं कि कविपुत्र हैं। उनके पिता भी कवि थे। और कवि तो वह सर्वविदित हैं।" यह ज्ञातव्य है कि उनकी नीति 'शुक्र-नीति' नाम से प्रसिद्ध है और वह ग्रंथ के रूप में उपलब्ध है। अमरकोष और गीता में भी शुक्राचार्य की चर्चा मिलती है। ऐसा भी कहा जाता है कि वह ऐसे कवि थे, जो ईश्वर की दिव्य विभूति समझे जाते थे।

"संजीविनी" में भारतीय विश्वास के अनुकूल शुक्राचार्य एक ऐसे तेजस्वी व्यक्ति हैं, जिन्हें "संजीविनी" विद्या प्राप्त थी। उनके इस दिव्य विद्या के कारण दानवों से देवता विजयी नहीं हो पाते थे। दानवों को पुनर्जीवन की प्राप्ति हो जाती थी। इसलिए देवताओं के गुरु बृहस्पति ने देवताओं में किसी एक को उनके (शुक्राचार्य) के पास जाकर उक्त विद्या सीख लेने की राय दी। और कच इस विद्या की शिक्षा के हेतु स्वर्ग से दानव-लोक गया।

जैसा कहा जाता है कि ज्ञानी और विद्वान् विनम्र और उदार होते हैं। उनकी यह उदारता ही थी कि असुरों के विरोधी कच को अपने आश्रम में स्थान दिया, अपना शिष्य बनाकर उसके जीवन को धन्य-धन्य किया। योग्य और उदार गुरु अपने सुयोग्य शिष्य को ही विद्या-दान करते हैं। उसी को अपने स्नेह की छाया में शिष्य का अधिकार देते हैं, जो सुपात्र होता है। यही कारण था, शुक्राचार्य ने कच के गुणों का

आभास पाकर सहर्ष शिष्यत्व प्रदान किया। उसके जीवन को सफल बनाया। कच की निष्ठा और गुणों को परखते हुए शुक्राचार्य ने कहा—

सुर-गुरु कुल के दीप, कामना निश्चय पूर्ण तुम्हारी हो।
तुम सुयोग्य हो, तुम सुपात्र हो, विद्या के अधिकारी हो।
विद्या-दान करूँगा तुमको, मैं सहर्ष ओ अनुरागी।
तुम्हें देखकर मेरे मन में युग-युग की आशा जागी।

यदि शुक्राचार्य द्वेष-भाव रखनेवाले साधारण व्यक्ति होते, तो कदापि कच को शिष्यत्व प्रदान नहीं करते, संजीविनी विद्या नहीं देते। स्पष्टतः वह सात्विक गुणों से सम्पन्न पुरुष थे, दानवों के गुरु होकर भी ऊर्ध्वमुखी भावना से आलोकान्वित थे, ऋषि थे।

शुक्राचार्य में कोमलता और करुणा की भावना भी पर्याप्त थी। उनमें पिता का कोमल हृदय था, तभी दानवों द्वारा विरोध किये जाने पर भी अपनी पुत्री की भावना से अवगत हो उसे पूर्ण करते रहते और इसीलिए कच को उन्होंने कई बार जीवन-दान दिया।

वह अपनी पुत्री के सुख के लिए अपना सर्वस्व भी सहर्ष अर्पित करने में प्रसन्नता का अनुभव करते थे। इसी से तो वह कच के अपने उदरस्थ होने पर प्राणों का मोह त्याग कर उसे संजीविनी' विद्या से जीवित करते हैं, यद्यपि ऐसा करने से उनका उदर विदीर्ण हुआ, वह कुछ क्षणों के लिए मृत्यु की वेदी पर न्योछावर हो गये। यहाँ, उनके वात्सल्य स्नेह की पराकाष्ठा दीख पड़ती है।

'संजीविनी' के शुक्राचार्य मात्र उदार और सहिष्णु ही नहीं, ज्ञानी भी हैं। वह अपने शिष्य कच को ज्ञान से ओत-प्रोत आलोक-पूर्ण उपदेश देते हैं—

श्रद्धा का सुन्दर फल विद्या, सत्-चरित्र विद्या-फल है।
सत्-चरित्र ही किसी देश का रुधिर, प्राण, जीवन-बल है।

उसी प्रकार जब वह कच को 'संजीविनी' विद्या का रहस्य बताने लगते हैं, उस समय उनकी सूक्ष्म विद्वत्ता और दिव्यता प्रकट होती है—

है अमृत मृत का विपर्यय। शुद्ध संज्ञा का निकेतन।
जो अचेतन हो चुके, उनको बनाता है सचेतन।
और जिनमें चेतना, उनको अमरता दान करता।
चिर-युवापन और चिर-यौवन उन्हें अनुपम वितरता।

इस प्रकार पौराणिक शुक्राचाय को आरसी प्रसाद सिंह ने जीवन्त रूप में चित्रित किया है। वह दिव्य गुणों से सम्पन्न अपने आचरण से श्रद्धा के अधिकारी हैं।

'संजीविनी' में राष्ट्रीय भावना एवं सन्देश

सुकवि आरसी प्रसाद सिंह कृत 'संजीविनी' एक प्रेरणामंडित, सन्देशयुक्त एवं उल्लेखनीय कृति है, जिसके द्वारा कविने भारतीय समाज को मांगलिक चेतना से आलोकित करना चाहा है। कवि ने पौराणिक कथा के माध्यम से वर्त्तमान को ऊर्ध्वमुखी गान से गुंजित किया है। वस्तुतः आलोच्य कृति अपने नाम के अनुरूप विपत्तियों से आच्छन्न भारत के लिए संजीविनी-बूटी है, जीवन-स्रोत सदृश है। मुख्य रूप से इस कृति का निर्माण राष्ट्रीय भावना की पुनीत भूमिपर उस समय हुआ, जब साम्यवादी चीनियों ने हमारे सीमावर्ती भूभाग को सैन्य-शक्ति से हड़पने का दुस्साहस किया। अहिंसा के पुजारी भारत पर हिंसा की वर्षा की। ऐसी परिस्थिति में हमारे सामने स्वतंत्रता की रक्षा का प्रश्न उठ खड़ा हुआ। कवि ने उक्त स्थिति में भारतवासियों के मन में स्फूर्ति और राष्ट्रीयता की 'संजीविनी' विद्या से अटूट शक्ति का संचार किया है। आरसी प्रसाद सिंह ने स्वयं लिखा—"स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए सुदृढ़ संकल्प, अचल धैर्य, अमित उत्साह, अटूट साहस, निरन्तर उद्योग, अपूर्व आत्मत्याग आदि जिन दैवी सद्गुणों की अनिवार्य आवश्यकता प्रतीत होती है, निस्सन्देह, सम्प्राप्त स्वतन्त्रता की रक्षा के निमित्त भी उन्हीं महान् सद्गुणों का आश्रय लेना पड़ता है। किन्तु संसार में इसके विपरीत व्यवहार देखा जाता है। किसी महान् लक्ष्य की प्राप्ति के पूर्व सत्य की जो प्रखर ज्योति दिग्दिगन्त को जाज्वल्यमान कर देती है, उद्देश्य

की पूर्ति हो जाने के उपरान्त एक मिथ्या तामसिक भाव का राहु उसे अपना ग्रास बना लेता है। साधन काल में मानव-चरित्र की जो विशेषताएँ बाधाविघ्नों के उद्दण्ड पाषाण खण्डों को तोड़-फोड़ कर उभड़ आती हैं, सिद्धि प्राप्त होते ही वे आलस्य, भोग, विलास एवं तन्द्रा की प्रगाढ़ जड़ता में आकण्ठ निमग्न होकर अपना अशेष अस्तित्व खो देती हैं। अतएव, यह एक सर्वमान्य एवं स्वयं सिद्ध तथ्य है कि संभ्रष्ट स्वाधीनता को प्राप्त कर लेना यदि महान् उद्योग है, तो संप्राप्त स्वाधीनता की रक्षा करना महत्तर पुरुषार्थ है।

आज भारत के समक्ष यही राष्ट्रीय समस्या है। स्वतन्त्रता की रक्षा की परीक्षा-घड़ी हमारे सामने है। हमारे देश को स्वतन्त्र हुए थोड़ा ही समय हुआ है। और अभी ही शक्तिशाली शत्रु हमें राहु की तरह ग्रस लेना चाहता है। हमारी राष्ट्रीय अखंडता को खण्डित कर देना चाहता है। ऐसी परिस्थिति में अपने प्राचीन इतिहास से प्रेरणा लेकर कर्त्तव्य करने में ही हमारा कल्याण है। आज हमारे अन्दर वह राष्ट्रीय भावना नहीं, जो स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व थी। आज का भारत आलस्य, द्वेष और अराजकता का शिकार हो रहा है। इसी तथ्य की ओर इंगित करते हुए कवि ने लिखा है—"आज हमारे देश की अचिरागता स्वतंत्रता अग्नि-परीक्षाओं से उत्तीर्ण होकर चरित्र के निकष पर चढ़ी है। सुख-समृद्धि के भौतिक साधनों में जिस बेग से वृद्धि हो रही है, उसी गति से यदि राष्ट्रीय चरित्र का ह्रास न हुआ होता, तो आज हमारी भूमि के एक महत्त्वपूर्ण अंश को बलात् अधिकृत कर लेने का दुःखद प्रसंग तो दूर रहे, किसी आततायी की उँगली उठने के पूर्व ही उसका मस्तक धड़ से विछिन्न हो जाता। किन्तु, जब तक हमारे अन्तःपुर में स्वार्थ, वैर, काम, क्रोध, कलह आदि दुर्गुणों का आधिपत्य रहेगा, तब तक हम कदापि यह आशा नहीं कर सकते कि हमारी सीमा से हमारे शत्रु निष्क्रिय-उदासीन हो जायँगे।" प्राचीनकाल में यही स्थिति उत्पन्न हुई थी। देवतागण स्वतन्त्र तो थे, परन्तु उनके अन्दर कर्त्तव्य की ज्योति

क्षीण पड़ गई थी। वे विलासिता के मद में तिरने लगे थे। यही कारण था कि वे दानवों के द्वारा आक्रमण किये जाने पर इन्हे पराजित करने में असमर्थ सिद्ध हो रहे थे। ऐसी दशा मे जबतक कच शुक्राचार्य से 'संजीविनी' विद्या लेकर स्वर्ग नहीं आया और जबतक जीवन का गूढ रहस्य और सफलता का मार्ग देवताओं को नहीं बताया, तबतक वे असमर्थता की शृंखला में जकड़े व्यथित रहे।

कवि ने स्पष्ट घोषणा की है कि बिना प्राणों का बलिदान किये, कर्त्तव्य और श्रम किए स्वतंत्रता रूपी देवी को प्रसन्न नहीं रखा जा सकता एवं जीवन का वास्तविक आनन्द कोई राष्ट्र नहीं पा सकता।

'संजीविनी' को राष्ट्रीय काव्य भी कहा जा सकता है, क्योंकि मूल प्रेरणा राष्ट्रीयता है। राष्ट्र किस प्रकार सम्पन्न हो, शत्रुओं से अपनी रक्षा करने में समर्थ हो सके, इसी तथ्य पर कवि ने विस्तारपूर्वक विचार किया है। इसलिए कवि ने एक पौराणिक कथा को माध्यम बनाया है और उसके द्वारा अपने विचारों का प्रतिपादन किया है। देवताओं पर भी दानवों ने आक्रमण किया था। दानव स्वर्ग पर अधिकार कर उन्हें दास बनाना चाहते थे। परन्तु, कच संजीविनी विद्या के रहस्य से अवगत होकर देवताओं में नवीन चेतना का स्पन्दन लाया, उनके जीवन में वीरता और उत्साह की गंगा प्रवाहित की। तब उनकी रक्षा हो सकी, दानव पराजित हो सके। कवि हमें उक्त युग की कथा से प्रेरणा प्राप्त करने का संदेश देता है। इस दृष्टि से 'संजीविनी' की तुलना 'मौर्य-विजय' से कर सकते हैं। 'मौर्य विजय' में भी भारतवासियों के अन्तराल में उत्साह का संचार करने हेतु अतीतकालीन भारत के गौरव का स्मरण किया गया है, मौर्य युग के स्वर्णिम पृष्ठों को खोल कर रखा गया है। जयशंकर 'प्रसाद' ने भी अपने नाटकों के माध्यम से इस पुनीत कार्य को सम्पन्न करना चाहा है।

इस कृति में एक और महत्वपूर्ण संदेश है। कवि ने संजीविनी विद्या का नवीन मूल्यांकन किया है, नयी व्याख्या की है। वह स्पष्टतः कहना

चाहता है कि क्रियाशीलता और कर्मठता में 'संजीविनी' शक्ति रहती है। अमरत्व प्राप्ति के लिए, सच्चा सुख उपलब्ध करने के लिए, संजीविनी विद्या की उपासना आवश्यक है। और 'संजीविनी' विद्या की सहज व्याख्या यह है—

है सुधा दक्षिण-पवन, संजीविनी आंधी अनल की।
सिन्धु की मद-गर्जना, उन्मादिनी झंझा गरल की।
यदि सुधा सुर-बालिका, शेफालिका अनुरागिनी है।
तो सजग संजीविनी उद्‌दीप्त काली नागिनी है।

और मृत्यु के विपरीत, संघर्ष में संजीविनी विद्या को माना है—

"मृत्यु का विपरीत जीवन, और जीवन तो समर है।"

'संजीविनी' में मातृभूमि की रक्षा के लिए तत्पर रहने की प्रेरणा दी गई है। गुरु वृहस्पति के द्वारा कवि ने कहलाया है—

किन्तु, स्मरण रखना सदैव तुम मातृ-भूमि की महिमा को।
भूल न जाना स्वाभिमान, उद्देश्य और सुर-गरिमा को।

कच कवि के स्वप्नों की सजीव प्रतिमूर्ति है, वह तो सदैव इसी भावना से ओत-प्रोत रहता है। इसीलिए वह देवयानी के प्रणय-निवेदन को ठुकरा देता है, भले ही उसे शाप का शिकार भी होना पड़ता है।

अतः, 'संजीविनी' राष्ट्रीयता की गारिमामंडित भावनाओं से अभिसिंचित उद्देश्यपूर्ण मंगलमय सन्देशों को प्रस्तुत करने वाली निष्ठायुक्त कृति है।

'संजीविनी विद्या' का तात्पर्य और उसका महत्त्व

भारत में यह विश्वास प्रचलित रहा है कि 'संजीविनी' नामक औषधि में ऐसा चमत्कार होता है, जिसके प्रयोग से मृतकों में भी प्राण प्रतिष्ठित हो जाते हैं। भारत के पौराणिक ग्रन्थों में 'संजीविनी' औषधि का प्रयाप्त उल्लेख मिलता है। यह भी माना जा रहा है कि दानवों के गुरु शुक्राचार्य के पास संजीविनी विद्या थी, जिसके फलस्वरूप दानवों की मृत्यु होने पर भी वे उन्हें पुनरुज्जीवित कर देते थे। 'संजीविनी' काव्य में भी शुक्राचार्य को इस विद्या से सम्पन्न चित्रित

किया गया है। शुक्राचार्य की इसी विद्या के फलस्वरूप देवता घबरा उठे थे, दानवों की शक्ति के समक्ष चिन्तातुर हो उठे थे और बृहस्पति के पुत्र कच ने शुक्राचार्य से उक्त विद्या को सीखने के लिए उनका शिष्यत्व ग्रहण किया था। प्रस्तुत कृति में इसी पौराणिक प्रसंग को उपस्थित करते हुए संजीविनी विद्या की सर्वथा नूतन व्याख्या की गई है। आज का युग विज्ञान का युग है। अत: युगानकूल उसकी नयी कल्पना कवि ने की है और वह कल्पना अधिक स्वाभाविक और तर्कसंगत भी प्रतीत होती है।

'योगी' के गणतंत्र-दिवस अंक, १९६६ में श्री किशोरी दास वाजपेयी ने लिखा है—

"किसी समय आर्यों के दो वर्गों में दीर्घकाल तक संघर्ष-संग्राम चला, जो 'देवासुर-संग्राम' के नाम से प्रसिद्ध है। इस संग्राम में असुर तेज पड़ते थे, देव दुर्बल वर्णित हुए हैं। कहते हैं, असुरों के गुरु शुक्राचार्य को 'संजीविनी विद्या' आती थी और वे मुर्दों में भी जान डाल देते थे। असुरों के तेज पड़ने का यह भी एक बड़ा कारण था। यह 'संजीविनी विद्या' और कुछ नहीं, प्रचण्ड राष्ट्रीय कविता ही थी। शुक्र को 'कवि' रूप में आज तक सब जानते हैं। शुक्र का एक पर्याय ही 'कवि' बन गया है। वाणी में बड़ी शक्ति है। कवि मुर्दों में भी जान डाल सकता है और चिड़ियों को बाज बना सकता है। गुरु गोविन्द सिंह भी कवि थे और उन्होंने अपनी कविता की शक्ति को समझ कर प्रतिज्ञा की थी—'जो चिड़ियों को बाज बनाऊँ, तो गुरु गोविन्द सिंह कहाऊँ।' उन्होंने वैसा किया। गरीब और निरीह किसानों को 'सिंह' बना दिया। छत्रपति शिवाजी को कविवर भूषण से बहुत बल मिला था। परन्तु महाराणा प्रताप सिंह को कोई वैसा कवि प्राप्त न था। इसी तरह देवासुर-संग्राम के अवसर पर देवों को वैसा कोई कवि प्राप्त न था।

उत्साह, कर्मठता, वीरता एवं प्रेम को 'संजीविनी' बताते हुए कवि शुक्राचार्य के माध्यम से स्पष्ट घोषणा करता है—

और जीवन भी नहीं है मात्र केवल चेतना ही।
प्रेम, आशा, वीर्य-बल उत्साह की उत्प्रेरणा भी।
तो, यही संजीविनी समझो, जहाँ यह जागती है।
मृत्यु भी उस स्थान से भयभीत होकर भागती है।

शुक्राचार्य द्वारा प्रस्तुत नवीन व्याख्या कवि की अपनी कल्पना का फल है। आज जब सभी तथ्यों की व्याख्या वैज्ञानिक धरातल पर होने लगी है, तब एक सजग कवि से ऐसी ही तर्क-युक्त व्याख्या स्वाभाविक लगती है। इस व्याख्या में जीवन और मृत्यु का अत्यन्त गूढ़ अन्तर स्पष्ट है, जो आधुनिक पाठकों को स्वाभाविक भी प्रतीत होता है।

नवें सर्ग में 'संजीविनी' विद्या के साथ लौटने पर कच के मुख से पुनः 'संजीविनी' की व्याख्या सुनने को मिलती है। उसकी व्याख्या भी स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक है। कच देवताओं को स्वतंत्रता के लिए ललकारता है और उसी में 'संजीविनी' विद्या का प्रकर्ष मानता है।

'संजीविनी' के सम्बन्ध में कवि की कल्पना नवीन है। वह उक्त विद्या को आधुनिक भारत के लिए आवश्यक ठहराता हुआ कहता है—"मुझे आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास भी है कि जिस प्रकार इस संजीविनी विद्या के प्रभाव से पुरा काल में देवताओं ने असुरों पर विजय पायी थी, उसी प्रकार आज भी देवभूमि भारतवर्ष अपने अन्तर्बाह्य शत्रुओं को परास्त कर देश-विदेश में सुख-शान्ति का साम्राज्य स्थापित करेगा।"

कुछ प्रश्न और उसके उत्तर

१

"संजीविनी" एक ऐसा काव्य है जिसकी कथा-रूपी प्रत्यंचा अतीत की ओर खिंची है, संदेश-रूपी शर-संधान भविष्य का संकेत दे रहा है

और वर्त्तमान युग का कठोर कोदंड जिसकी बज्रमुष्टि में है"—इस उक्ति की विवेचना कीजिए।

कलाकार द्रष्टा और स्रष्टा के गुणों से सम्पन्न होता है। अपने इस महान् दायित्व को निभाने के क्रम में वह भूत, भविष्य और वर्त्तमान तीनों का ध्यान रखता है। वह इतिहास की व्यापक संचेतना से अतीत काल का अवलोकन करता है, नवीन उद्भावना से वर्त्तमान की परीक्षा करता है और दूरदर्शी की दृष्टि से भविष्य को देने का उपक्रम करता है। "संजीविनी" एक ऐसी ही कृति है, जिसमें कलाकार श्री आरसी की दृष्टि व्यापक बनी दीख पड़ती है। "संजीविनी" की कथा पौराणिक है, परन्तु कवि ने उसके माध्यम से भावी युग को दिव्य संदेश दिया है एवं आज की एक महत्वपूर्ण समस्या का निदान प्रस्तुत किया है।

"संजीविनी" के माध्यम से कवि ने वर्त्तमान के लिए व्यावाहारिक और महत्वपूर्ण समाधान किया है, जिसमें भविष्य का सुख-स्वप्न समाविष्ट है। कवि का स्पष्ट विश्वास है कि स्वतन्त्रता प्राप्त करने से भी कठिन है उसकी रक्षा। स्वतन्त्रता-रूपी पौधा कर्त्तव्य-निष्ठा और देशभक्ति के सीकर से विकसित और पल्लवित होता है। कवि ने 'संजीविनी' में स्वयं ही लिखा है—स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए सुदृढ़ संकल्प, अचल धैर्य, अमित उत्साह, अटूट साहस, निरुन्तर उद्योग, अपूर्व आत्म-त्याग आदि जिन दैवी सद्‌गुणों की अनिवार्य आवश्यकता प्रतीत होती है, निःसन्देह सम्प्राप्त स्वतन्त्रता की रक्षा के निमित्त भी उन्हीं महान् सद्‌गुणों का आश्रय लेना पड़ता है। यह एक सर्वमान्य एवं स्वयं-सिद्ध तथ्य है कि संभ्रष्ट स्वाधीनता को प्राप्त कर लेना यदि महान् उद्योग है, तो संप्राप्त स्वाधीनता की रक्षा करना महत्तर पुरुषार्थ है।

कवि की दृष्टि मुख्य रूप से भारत की वर्त्तमान स्थिति पर है। कवि देखता है कि आज भारत के पैरों से परतन्त्रता की कड़ी काट दी गई है। परन्तु समस्या है, उसकी रक्षा कैसे हो? एक ओर चीन तथा पाकिस्तान को क्रूर दृष्टि भारत पर है, तो दूसरी ओर हम स्वयं पारस्प-

रिक द्वेष और हिंसा-घृणा के ताप से परितप्त हो रहे हैं। हम असंठित हैं। ऐसी विषम परिस्थिति में स्वतन्त्रता की रक्षा कठिन समस्या बन रही है। कवि ने इस समस्या का समाधान करते हुए कहा..."आज के युग में यदि हमारे पावन-पुरातन देश को स्वतन्त्र होकर जीवित रहना है, तो मानवता के चिरन्तन मूल्यों को सर्वस्व देकर भी ग्रहण करना होगा। बल, वीर्य, उत्साह आदि रचनात्मक सद्‌गुणों के साथ त्याग, निष्ठा, सत्य प्रेम, सामूहिक इच्छा-शक्ति आदि दैवी सम्पत्तियों का आवाहन भी करना होगा। आज 'संजीविनी' विद्या की यदि इतनी भी सार्थकता सिद्ध हो जाए, तो भारतवर्ष फिर अपने पुरातन युग के गौरवशाली इतिहास को प्राप्त कर संसार का पथ-प्रदर्शक बन सकता है।"

२

"संजीविनी" में युग-स्वर ही मुखरित हुआ है।" उक्ति पर विचार कीजिए।

स्पष्टतः इसमें नवजागरण का संदेश है, प्राचीन कलेवर में भी आधुनिक युग को नवीन चेतना देने का प्रयास है। देवताओं के सामने स्वतन्त्रता की रक्षा का प्रश्न जिस विकट रूप में उठ खड़ा हुआ था, आज वह उतने ही तीखे रूप में भारत के सामने है। यह स्मरणीय है कि इस कृति का निर्माण उस समय हुआ था, जब भारत पर चीनियों ने आक्रमण किया था। भारत की पवित्र भूमि को अपने पापी पैरों से रौंदने की चेष्टा की थी। और, भारत के समक्ष नव प्राप्त स्वतन्त्रता की रक्षा की समस्या उठ खड़ी हुई थी। कच ने देवताओं का उदबोधन करते हुए स्वतन्तत्रा की रक्षा का मार्ग बताया था—

शान्ति और पुण्य की रक्षा हेतु संघर्ष एवं युद्ध सार्थक है, महत्वपूर्ण है। विश्व स्वाधीनता का आनन्द भोग करे। सर्वत्र प्रेम और सहानुभूति की गीत प्रवाहित हो, ऐसी भावना रखने में ही विश्व का कल्याण है।

स्पष्टतः इस मूल कथा का संदेशरूपी शर-संधान कवि का संदेश देने में समर्थ है। अतः इस कृति का मूल्य स्वर सामयिकता की प्रेरणा देनेवाला है।

श्री आरसी प्रसाद सिंह,

बिहार के कवियों में आरसी प्रसाद सिंह का ऊँचा स्थान है और वे प्रतिष्ठा एव सम्मान की दृष्टि से देखे जाते है। अपनी अन्तःक्षमता एव
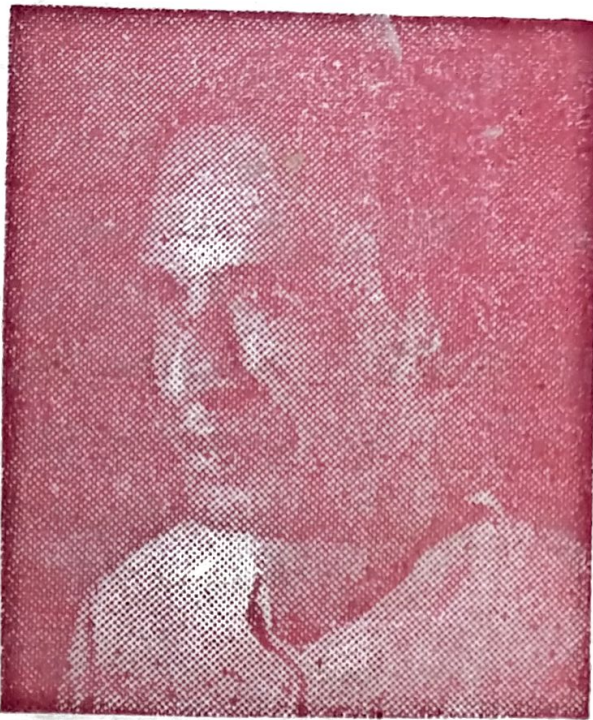
साहित्य-शक्ति के कारण इन्होंने छायावाद के तृतीय उत्थान के कवियोंमें ऊँचा स्थान प्राप्त कर लिया है। इनकी कविताएँ भाव एव भाषा दोनों दृष्टियों से उत्तम हैं। विभिन्न विषयों पर ये सुन्दरता एवं सफलता के साथ लिखते आ रहे हैं। इनका प्रकृति-वर्णन सूक्ष्मतापूर्वक, चित्रात्मक एव कलात्मक होता हैं। पीड़ा कीआन्तरिकता एवं मार्मिक भावोंकी अभिव्यंजना में इनकी कवि-लेखनी को कौशल प्राप्त है। आरम्भ में सुमित्रानन्दन पंत के रहस्यात्मक प्रकृति-वर्णन का इन पर प्रभाव पड़ा था। शतदल (नवयुग काव्य विमर्श, पृष्ठ ३२१) नामक रचना में स्वर्ण विहान, श्याम बादल, पुलकित हिमकर, गुंजित निर्झरिणी एवं सिन्धु की उत्ताल तरंगावलि में विश्व की मूल रहस्य-शक्ति के दर्शन किये हैं। इनका कवि-स्वभाव पूर्ण स्वच्छन्दता-वादी है। अतएव, बाद को इसी वृत्ति का इनके काव्य में पूर्ण विकास हुआ है। ये शुद्ध छायावादी कवियों की भांति प्रकृति और जीवन की अन्तः-छवियों के अवगाहन में तल्लीन रहे हैं। इसी से इनकी रचनाओं में जटिलता एवं क्लिष्टता नहीं; सरलता, सहजता, मधुरता एवं संगीत-तरलता का वैशिष्ट्य है।

प्रकृति-चित्रण में मानवीकरण-शैली की प्रधानता है। कहीं-कहीं प्रकृति के भीतर कवि विश्वास रूप में चेतना का अनुभव करता दिखायी पड़ता है। अलंकरण की प्रवृत्ति भी इनकी रचना-शैली की विशेषता है। भाषा संस्कृत की मधुर कोमल तत्सम-पदावली से पूर्ण सुगठित एवं कलात्मक होती है। तत्समता के होते हुए भी शब्दों का लोष्टवत् प्रयोग कहीं नहीं मिलेगा। भाषा में एक मधुर-मंथर, किन्तु सुनियोजित प्रवाह है।

— डा० धीरेन्द्र वर्मा द्वारा सम्पादित, साहित्य—कोष से।